भारतीय चिति की पुनर्गवेषणा : आनन्द कुमारस्वामी

बृजेन्द्र पाण्डेय

भारतीय विमर्श-जगत में 'भारत-बोध' का प्रश्न बार-बार उठना आत्म-विस्मरण के कुहासे से बाहर निकलने की बेचैनी के रूप में देखा जा सकता है। इस 'भारत-बोध' की समझ को हम चिति और विराट् की भारतीय संकल्पना के आधार पर ही रेखांकित कर सकते हैं। यह भी एक विडम्बना है कि भारतीय राजनीति के सत्ता-केन्द्र में जब-जब भारतीय जनता पार्टी प्रतिष्ठित होती है, इस प्रकार के प्रश्न जोर-शोर से उठाए जाने लगते हैं; विश्वविद्यालयों, अकादमिक संस्थानों के शीर्षस्थ पदों पर 'भारत-बोध' की चिन्ता से ग्रस्त महानुभावों को स्थापित किया जाने लगता है। कुछ अन्य सुसुप्त संस्थाएँ भी अचानक जागृत और सक्रिय हो उठती हैं, वे कुछ उपेक्षित विचारों को 'हवा' देने लगती हैं, और फिर सत्तावसान के साथ ही इन सभी अभियानों का वेग मंद और आभा क्षीण पड़ जाती है। समकालीन भारतीय राजनीति के दौर में भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व के कालखण्ड को एक वैकल्पिक स्वीकृति के कालखण्ड के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय जनता पार्टी एक ऐसी राजनीतिक धारा का नेतृत्व करती दिखायी देती है, जिसकी उपस्थिति को दलीय राजनीति के दायरे के बाहर भी जाकर देखने की आवश्यकता है। यूँ तो आपातकाल के बाद भी जनता पार्टी के रूप में देश को एक अलग प्रकार का नेतृत्व देने का यत्न किया गया था, जो अल्पजीवी ही सिद्ध हुआ। किन्तु जनता पार्टी के उस अल्पकालिक दौर को भी स्वाधीनता के बाद से चले आ रहे देश के राजनीतिक चरित्र से बहुत भिन्न नहीं माना जा सकता। वैसे तो देश के राजनीतिक पटल पर अपनी उपस्थिति के लिए कशमकश करती हुए भारतीय जनता पार्टी के दौर को भी वैसा ही एक दौर माना जा सकता है, जो देश में अनवरत रूप से व्याप्त रहा है, किन्तु एक लम्बे कशमकश के बाद यदि पाँच-पाँच वर्षों के लिए दो बार भारतीय जनता पार्टी की 'बहुदलीय' सरकार बनती है, तो इसके कुछ गहरे निहितार्थों को भी समझने की आवश्यकता है। जैसे पहले कहा जा चुका है कि भारतीय जनता पार्टी के इस दौर को संसदीय प्रजातंत्र की दृष्टि से भले ही कोई वैचारिक या नीतिगत वैशिष्ट्य न प्राप्त हो, किन्तु भारतीय जनता पार्टी का यह दौर स्वतंत्र भारत की राजनीति में एक ऐसे हस्तक्षेप के रूप में दिखायी देता है, जब धुँधला ही सही, एक ऐसा राजनीतिक विकल्प देश को प्राप्त होता है, जिसमें देश के सम्पूर्ण राष्ट्रबोध को एक बहुप्रतीक्षित नई दृष्टि से देखने का अवकाश प्राप्त होता है। बहुत कुछ राजनीतिक प्रेरणावश ही सही, किन्तु राष्ट्रीयता, स्वदेशी, शिक्षा, संस्कृति, पुनरुत्थान जैसे कुछ ऐसे विचारों को, जिन पर स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रथम चरण में प्रमुख रूप से विचार किया गया था, और जिनको स्वाधीनता-आन्दोलन के आगामी चरणों में देश की राजनीतिक आजादी के प्रमुख लक्ष्य बन जाने के कारण, और स्वाधीनता के बाद देश के राजनीतिक नेतृत्व के 'विकासोन्मुख' हो जाने के कारण, लगभग पार्श्व में धकेल दिया गया था, पुनः अपनी सार्थकता और अस्तित्व-बोध को जगाने का अवसर प्राप्त हुआ। ईमानदारी से कहें तो, नरेन्द्र मोदी के 'डिजिटल इण्डिया'

को अटल जी के 'शाइनिंग इण्डिया' और नेहरू के 'आधुनिक भारत' के स्वप्न का ही स्वाभाविक, अनवरत और घनीभूत विस्तार माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से देश को 'आगे ले जाने' के संकल्प को लेकर नेहरू-युग से अटल-युग होते हुए मोदी-युग तक कोई अधारभूत और नीतिगत अन्तर दिखायी नहीं देता। किन्तु अटल-युग और मोदी-युग - इन दोनों युगों में राष्ट्र की 'चिति' और 'विराट्' को निर्धारित/व्यक्त करने वाले तत्त्वों को सतह पर आते हुए देखा जा सकता है। अपनी-अपनी कार्यशैली के कारण अटल-युग और मोदी-युग को लेकर राजनीतिक सत्ता की दृष्टि से पक्ष-विपक्ष के अपने-अपने तर्क हो सकते हैं, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि राष्ट्र के तत्त्व-विन्यास (Essence) को तय करने वाले उक्त विषयों को इन्हीं युगों में चर्चा का अवकाश मिल पाया, और इस दृष्टि से भारतीय जनता पार्टी का दौर एक 'Breakthrough' की तरह से अवश्य ही देखा जाना चाहिए। राजनीति में सक्रिय जनों के प्रति यदि इस अपेक्षा को सीमित भी रखा जाए, तो भी देश के नागरिक-समाज (Civil Society) और बौद्धिक जगत से तो यह अपेक्षा रखी ही जानी चाहिए कि तथाकथित राजनीतिक उपलब्धियों को गिनाने-मिटाने की धमाचौकड़ी से अलग हटकर उन्हें तो कम से कम इस 'Breakthrough' का उपयोग राष्ट्र के तत्त्व-विन्यास को निर्धारित करने वाले विषयों की सार्थक चर्चा में करना ही चाहिए था। दुर्भाग्य से कुछ अपवादों को छोड़कर देश का संगठित और असंगठित नागरिक-समाज, बौद्धिक वर्ग, विश्वविद्यालय आदि सभी प्रतिष्ठान इस 'Breakthrough' का इमानदारी से सदुपयोग नहीं कर पाए। इन्होंने इस अवसर पर भी राजनीतिक फायदे-नुकसान के लिए विरोध-समर्थन के खाँचों में बँटकर इन दीर्घजीवी मुद्दों पर सहमति निर्मित करने की एक दुर्लभ संभावना को लगभग गँवा दिया।

विचारणीय यह है कि 'भारत-बोध' का प्रश्न एक गंभीर और दीर्घजीवी महत्व का प्रश्न है। दीर्घकाल की भारतीय पराधीनता और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के जटिल किन्तु अन्तरंग प्रभाव के कारण यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। यह कई दृष्टियों से विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न पर विचार करने की प्रक्रिया के अर्न्तगत 'भारत-बोध' को क्षीण करने वाले तत्त्वों की पहचान तो करनी ही है, उनसे बाहर निकलने का उपाय भी सोचना ही है, किन्तु साथ में 'भारत-बोध' के स्थायी लक्षणों को इस दीर्घकालिक और सघन कुहासे के बीच से पहचानना और उनके प्रति स्वीकृति का भाव भी विकसित करना है। दूसरे शब्दों में, यह हमारे विस्मृत 'आत्म-बोध' की गवेषणा और उसकी पुनर्प्रतिष्ठा का महाअभियान है। इस महत् प्रयास में हमें इस केन्द्रीय प्रश्न के स्थायी और निर्णायक महत्व को क्षणमात्र के लिए भी दृष्टिपटल से ओझल नहीं होने देना है। साथ ही इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बड़ी सावधानी और सतर्कता की भी आवश्यकता है, क्योंकि न केवल राजनीतिक भावावेश में इस प्रश्न पर विचार नहीं हो सकता, वरन् समान-प्रकृति के प्रतीत होने वाले उन अनेक प्रयत्नों पर भी नजदीकी दृष्टि रखने की आवश्यकता है, जो पुनर्जागरण-काल से ही भारतीय विचार-पटल पर अलग-अलग व्यक्तियों/संस्थाओं/आन्दोलनों के माध्यम से होते रहे हैं।

लोकयात्रा चाहे व्यक्ति की हो अथवा संस्थाओं और सभ्यताओं की, उदयावपात उसकी नियति है। भारतीय सभ्यता भी इसका अपवाद नहीं है। बारहवीं सदी में इस्लाम और उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड के राजनीतिक वर्चस्व की स्थापना ने भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप के लिए नई चुनौतियाँ उत्पन्न कीं। यदि सोलहवीं सदी का भक्ति-आंदोलन मुस्लिम शासन के संदर्भ में भारत की आत्म-समीक्षा था, तो उन्नीसवीं सदी का पुनर्जागरण ब्रिटिश साम्राज्य के संदर्भ में आत्मालोचन था। निःसन्देह उन्नीसवीं सदी के भारतीय पुनर्जागरण

का स्वरूप भक्ति-आंदोलन की तुलना में काफी जटिल है, क्योंकि उन्नीसवीं सदी में भारत को न केवल एक विदेशी, वरन् एक इहलोकवादी जीवन-दृष्टि से जूझना पड़ा। महर्षि अरविन्द ने भारतीय पुनर्जागरण को आधुनिकता का एशियाई संस्करण कहा है, और अनेक दृष्टियों से यह सत्य भी है। परन्तु श्री अरविन्द व कतिपय अन्य विद्वानों का यह निष्कर्ष भी महत्त्वपूर्ण है कि पुनर्जागरण काल में आधुनिक पाश्चात्य जीवन-दृष्टि का ही महिमामण्डन नहीं हुआ, वरन् भारतीय संस्कृति के मूल स्वरों की कभी मंद व कभी तीव्र प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ती है। भारतीय पुनर्जागरण का स्वरूप सोलहवीं सदी के यूरोपीय पुनर्जागरण की भाँति ही जटिल है। दोनों में इहलोकवाद के प्रति प्रबल आग्रह विद्यमान है। लेकिन हमें यूरोपीय पुनर्जागरण एवं भारतीय पुनर्जागरण के एक मौलिक अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए। सोलहवीं सदी के यूरोप के राष्ट्र-राज्य स्वतंत्र थे और वे स्वेच्छा से इहलोकवादी-व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि का वरण कर रहे थे। ईसाई जीवन-दृष्टि से विलग होने की उनकी इच्छा आत्म-प्रसूत थी। उन्नीसवीं सदी का भारत एक पराधीन राष्ट्र था जिस पर आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के जीवनादर्श आरोपित किए जा रहे थे। यह आरोपण उसे प्रायः कसमसाहट और पीड़ा से भर देता है, तथा अनेक अन्तर्द्वन्द्वों व विरोधाभासों को जन्म देता है। पुनर्जागरण-काल एक क्लान्त-श्रान्त प्राचीन देश में आधुनिकता के बीजारोपण का काल तो है ही, यह भारतीय अस्मिता के सिंहनाद का काल भी है। यह आत्म-विस्मरण का काल भी है, और पुनर्स्मरण का भी। यह दिग्भ्रान्ति का काल भी है, और दिशा-बोध का भी। यह संविभ्रम (Paranoia) का काल भी है, और सम्यक् दृष्टि (Metanoia) का भी। एक प्राचीन राष्ट्र अपने नए संरक्षक के प्रति कभी विश्वास, कभी अविश्वास का भाव लिए गतिमान है, परन्तु गंतव्य को लेकर दुविधाग्रस्त है।

* * * * *

हम आधुनिक लोग कुछ विशिष्ट प्रकार के लोग हैं- हम प्रत्येक सार्थक वस्तु को पहले प्रश्नांकित करते हैं, और फिर उसे अपनी तरह से पुनः परिभाषित करते हैं। किन्तु ऐसा करते समय हम उस वस्तु के चिरन्तन संदर्भ का विस्मरण कर देते हैं, और आत्म-परिभाषीकर्त्ता बन जाते हैं। आत्म-परिभाषीकर्त्ता होना आधुनिक मनुष्य का मुख्य लक्षण है। यह आधुनिक मनुष्य इसलिए आत्म-परिभाषीकर्त्ता है, क्योंकि यह अपने जीवन के प्रयोजनों का निर्धारण स्वयं करता है, और इस निर्धारण में उसे किसी बाह्य-सत्ता या प्रभाव - चाहे वह सामाजिक परम्परा हो, रीति-रिवाज हों या धार्मिक निर्देश हों - का हस्तक्षेप सह्य नहीं, स्वीकार्य नहीं। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का आत्म-परिभाषीकर्त्ता के रुप में अवतरित होना तभी सम्भव हो पाता है, जब मनुष्य ईश्वर के प्रति, परम् अज्ञात दिव्य सत्ता के प्रति विद्रोह करता है, या उससे विमुख हो जाता है। यह विद्रोह ही वस्तुतः समस्त आधुनिक वैचारिकी की मूल-प्रतिज्ञा है। इस विद्रोह के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व अपने सकल सन्दर्भ के सापेक्ष विसंगतिपूर्ण हो जाता है। आधुनिक मनुष्य इन विसंगतियों को पहचानने भी लगा है, और वह इनसे मुक्त होने का प्रयत्न भी करता है; परन्तु विडम्बना यह है कि उसके ऐसे सारे प्रयत्न बाह्य जगत की संस्थाओं में परिवर्तन लाने भर तक ही सीमित रह जाते हैं, और ये परिवर्तन भी आधुनिक मनुष्य की विखण्डित बुद्धि से ही प्रेरित होते हैं। ऐसे में न तो इन संस्थाओं का ही सम्यक् स्वरुप स्थापित हो पाता है, और न ही मनुष्य की इयत्ता या उसके सत्व की पहचान ही स्थापित हो पाती है। यह मनुष्य के अपनी अर्थवत्ता के प्रति अविश्वस्त हो जाने का संकट है। ऐसी स्थिति में उसकी समृद्धि का प्रत्यय भी

निरर्थक सिद्ध होता है। समृद्धि की खोज अर्थ-संग्रह तक सीमित रह जाती है, और ऐसी समृद्धि की खोज में जब स्वतंत्रता, जो आधुनिक सभ्यता की मुख्य प्रेरणाशक्ति है, का उपयोग किया जाता है, तो एक आक्रामक और अन्तहीन प्रतिस्पर्द्धा का जन्म होता है, और सामाजिक सौहार्द्र विनाशकारी संकट से ग्रस्त हो जाता है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसे अलस्देयर मैकिंटायर ने 'अन्य साधनें के द्वारा चालित गृहयुद्ध' की संज्ञा दी है। ऐसे में कोई सर्वसम्मान्य जीवन-दृष्टि भी ग्रहण-ग्रस्त हो जाती है। इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए प्लेटो ने समाज में पारस्परिक स्नेह-भावना के विलोपन की वास्तविकता की चर्चा की है, और इसी संकट के समाधान को इंगित करते हुए महात्मा गांधी ने कहा था कि स्वशासन का मापदण्ड मनुष्य के अन्तरतम में अवस्थित है; वह बाह्य जगत को चाहे जितना भी बदल दे, उससे मनुष्य का अन्तर्जगत नहीं बदलता।

परम्परागत विश्वदृष्टि का निषेध करने वाली इस आधुनिक सोच ने प्रत्यक्ष विज्ञानवाद पर आधारित विकासवाद की जिस अवधारणा को जन्म दिया, उसका स्वरूप एकरेखीय (Linear) है। यह एक-रेखीयता वस्तुतः मनुष्य और प्रकृति के अन्तर्सम्बन्धों के मध्य नियामक-रूप से अवस्थित पारमार्थिक सत्ता के अस्तित्व का नकार या निषेध है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक विकासवादी अवधारणा मूलतः आध्यात्मिक चेतना के ह्रास, विज्ञानवाद के अभ्युत्थान और प्रसार तथा मानव और प्रकृति के विच्छेद, विनिपात और अपवित्रीकरण के वृत्तान्त का निष्कर्ष है। पारमार्थिक तत्त्वज्ञान से विच्छिन्न मानवीय बुद्धि अहंकार-प्रधान, उच्छृंखल तथा आक्रामक हो जाती है, और शक्ति एवं हिंसा का प्रतिरूप बन जाती है। वह प्राकृतिक पदार्थों (*Natura Naturata*) को उनके मूल जीवन-स्रोत आदिशक्ति (*Natura Naturans*) से पृथक करके उन्हें अविहित विनियोग, उपभोग और शोषण का विषय बना लेती है। प्रतिक्रियास्वरूप प्रकृति भी अपनी निगूढ़ शक्तियों के माध्यम से अपना विकराल, रौद्र रूप प्रकट करने के लिए विवश हो जाती है। विकास और पर्यावरण के मध्य उत्पन्न वर्तमान द्वन्द्व का यही कारण है।

विकास की अवधारणा आधुनिक समय की एक प्रभावशाली अवधारणा है। इस अवधारणा के कई आयाम तो हैं ही, इसके अभ्युदय और इसकी व्यापकता का एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी है। समाज विज्ञानों की भाषा में हम जिसे आधुनिक काल कहते हैं उसकी कुछ मूल मान्यताएँ हैं, जो सृष्टि और सृष्टि के प्रवाह के साथ मनुष्य के अन्तर्सम्बन्ध को समझने की परम्परागत मान्यताओं से सर्वथा भिन्न हैं। दूसरें शब्दों में, आधुनिकता की विश्वदृष्टि न केवल परम्परागत दृष्टि से भिन्न है, वरन् परम्परागत विश्वदृष्टि का सर्वथा निषेध है। पाश्चात्य अथवा प्राच्य परम्परागत विश्वदृष्टि में ईश्वर-मनुष्य-प्रकृति की एक त्रिस्तरीय सोपानवत् (Hierarchical) व्यवस्था को स्वीकार किया गया है। इस व्यवस्था में मनुष्य-मनुष्य और मनुष्य-प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों के नियामक के रूप में ईश्वरीय विधान की केन्द्रीय सत्ता और महत्ता स्वीकार की गई है। यूनानी परम्परा में इस विधान को '*Dike*', मध्यकालीन यूरोपीय परम्परा में 'प्राकृतिक विधि' (Natural Law), तथा भारतीय परम्परा में 'ऋत' कहा गया है। न्याय का परम्परागत यूनानी स्वरूप, राजदर्शन का परम्परागत इसाई स्वरूप तथा धर्म की परम्परागत भारतीय संस्थापनाएँ क्रमशः इन्हीं मूल सिद्धान्तों (First Principles) का रूपान्तरण हैं। इन सिद्धांतों के प्रभावशील रहते मानवीय जीवन के लौकिक और पारमार्थिक तत्त्वों के मध्य एक अनिवार्य और निश्चित अन्तर्सम्बन्ध परिलक्षित होता है, तथा जीवन की बहुआयामिता और बहुस्तरीयता को पर्याप्त और उचित महत्व मिलने के साथ ही जीवन का पारमार्थिक लक्ष्य ही मुख्य प्रेरक और नियामक बना रहता है। यह ठीक है कि मानव-जीवन बहुआयामी है, उसके विभिन्न सोपान हैं, विविध लक्ष्य हैं तथा

उनमें अन्तर्क्रिया एवं अन्तर्सम्बन्ध विद्यमान हैं, किन्तु जिस प्रकार छोटी-बड़ी समस्त जलधाराएँ सिन्धु में विलीन होती हैं, उसी प्रकार मानव-जीवन के समस्त आयाम, समस्त लक्ष्य, समस्त सोपान एवं समस्त अन्तर्सम्बन्ध एक विराट् में अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं। समस्त दृश्य-प्रपंच एक महाज्योति का प्रतिबिम्ब है; उसी से उत्सर्जित एवं उसी में विसर्जित है। यही उस परम्परा का मूल लक्षण है, जो काल एवं कालातीत, लोक एवं लोकोत्तर, तथा मानव एवं मानवोत्तर के मध्य सेतु है। इसलिए वह सार्वभौम भी है और विशिष्ट भी। कालातीत, लोकोत्तर एवं मानवोत्तर होने के कारण वह सार्वभौमिक है, तथा देशकाल के अनुरूप कलेवर धारण करने के कारण वह विशिष्ट है। इस मूल सत्य के विस्मरण का नाम ही आधुनिकता है; जो मूल के बिना वृक्ष की, अंगी के बिना अंग की, समष्टि के बिना व्यष्टि की परिकल्पना करती है; और उसे पर्याप्त मानकर जीवन और जगत के प्रश्नों का समाधान खोजती है।

बीसवीं शताब्दी की दो प्रचण्ड विरोधी विचारधाराओं - समाजवाद और पूंजीवाद - ने भी विकास की अवधारणा को केवल अपनी-अपनी तरह से परिभाषित और पोषित करने का ही कार्य किया है। इसीलिए अनेक विचारशील लोगों ने ऊपर से विरोधी दिखने वाली इन विचारधाराओं को तत्त्वतः समान ही माना है। विकास की इस अवधारणा का पर्यावरणीय प्रभाव तो वैश्विक है ही, इसके सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक और आर्थिक प्रभाव भी व्यापक हैं। वैश्वीकरण, जो घनीभूत उदारीकृत विकासवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक विशिष्टताओं के लिये घातक ही सिद्ध हुआ है। अपनी एकरेखीय और एकरूपीय पद्धति के कारण इसने सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक क्षेत्र में न केवल आधिपत्यवादी एकरूपता (Hegemonic Uniformity) को बढ़ावा दिया है, वरन् इन क्षेत्रों के आंतरिक विधि-निषेधात्मक नियामकों को शिथिल करते हुए अनेक आंतरिक विसंगतियों को भी जन्म दिया है। पारिवारिक विघटन, नई-नई अस्मिताओं के संघर्ष, कालाधन, नशा और वैश्विक आतंकवाद इन्हीं विसंगतियों के स्वाभाविक लक्षण हैं।

इसी प्रकार विश्व अर्थव्यवस्था में बढ़ती अनिश्चितता भी जीवन की बहुआयामी-बहुस्तरीय वास्तविकता की उपेक्षा करने वाले इसी विकासवाद की उपज है। पर्यावरण, आतंकवाद, अर्थव्यवस्था के मसलों पर वैश्विक जनमत की उलझनें और अड़चनें इस बात का प्रमाण हैं कि विकासमूलक वैश्विक परिप्रेक्ष्य गंभीर संकटों से ग्रस्त हो चुका है। विडम्बना यह है कि जिस लोकतांत्रिक प्रक्रिया को आज राजनीतिक प्रणाली की सर्वमान्य विधा माना जा रहा है, उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति जिन साधनों से होती है, वे साधन भी इस विसंगति और संकट को और गहरा ही कर रहे हैं। भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का ताना-बाना जिस प्रकार से अस्त-व्यस्त हो रहा है, शिक्षातंत्र की उलझनें जिस प्रकार बढ़ती जा रही हैं, बुनियादी संस्थाएँ और मान्यताएँ जिस प्रकार क्षरित होती जा रही हैं, तथा विकास और विकास की राजनीति जिस प्रकार इस क्षरण को बढ़ाते जा रहे हैं, उससे हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक आदर्शों, और आर्थिक-राजनीतिक गत्यात्मकता के बीच असंतुलन और तनाव स्पष्ट होता जा रहा है।

दुर्भाग्य से आधुनिक मनुष्य ऋत की मान्यता का घोर तिरस्कार करता है। वस्तुतः, आधुनिकता की मूल-प्रतिज्ञा ही, जैसा पहले कहा जा चुका है, ऋत के तिरस्कार पर टिकी है। इसके दो विषम परिणाम होते हैं- एक तो मनुष्य की इच्छाओं का, आवश्यकताओं का किसी परम उद्देश्य से सम्बन्ध टूट जाता है; वे अपने औचित्य का आधार स्वयं बन जाती हैं जो एक आत्म-विरोधी प्रक्रिया है; और दूसरे, आवश्यकताएँ अबाध रूप से बढ़ती ही जाती हैं, वे अन्तहीन हो जाती हैं। इस स्थिति में व्यक्ति - समाज और प्रकृति -

दोनों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति का साधन-मात्र मानता है। वह अपनी इस प्राकृतिक अवस्था से प्रेरित होकर शोषक बन जाता है। आनन्द कुमारस्वामी के अनुसार ऐसा प्राकृतिक मनुष्य 'आध्यात्मिक रूप से नेत्रहीन' होता है। अभिनव गुप्त ने इसी अवस्था को 'अविद्या' कहा है।

* * * * *

इस लौह-पिंजरमय आधुनिकता के परिणामस्वरूप जिस 'पुनर्जागरण' (Renaissance) और 'प्रबोधन' (Enlightenment) के युग का आविर्भाव यूरोप में हुआ, उपनिवेशवाद के प्रसार-स्वरूप उसका विस्तार विश्व के अनेक देशों के साथ-साथ भारतवर्ष में भी हुआ। भारत का पुनर्जागरण-काल अनेक विरोधाभाषों का काल रहा है। पुनर्स्मरण और आत्म-विस्मृति, आत्म-गौरव और आत्म-ग्लानि, दृष्टि-बोध और दृष्टिहीनता, विवेक और संभ्रम, प्रतिबद्धता और प्रमाद तथा जागरण और सुसुप्ति- ये सभी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ इस पुनर्जागरण-काल में एक साथ दिखाई देती हैं। इसलिए इसका अन्तिम प्रभाव एक दुविधा को जन्म देता है, जिससे बाहर निकलना ही हम भारतीयों के लिए अपने आत्म-बोध या 'भारत-बोध' के प्रकल्प का वास्तविक उद्येश्य होना चाहिए। इस भारत-बोध को तलाशने का यह कार्य इसलिए भी जटिल है, क्योंकि इस पर छाया कुहासा केवल भारतीय परिस्थितियों की ही उपज नहीं है, वरन् इसकी पृष्ठभूमि में 'आधुनिकता' का वह घटाटोप अंधकार है, जिसने न केवल यूरोप को अपने स्वर्णिम अतीत से विमुख किया, वरन् यूरोपीय उपनिवेशवाद के माध्यम से भारतवर्ष को भी दिग्भ्रमित किया। ऐसी स्थिति में हमारे दिग्दर्शन के लिए कुछ इस प्रकार के मनीषी-महापुरुष अधिक उपादेय हो सकते हैं जिन्हें पारम्परिक और आधुनिक, यूरोपीय और भारतीय, जीवन-दृष्टि का सम्यक्, गहन और व्यापक बोध हो।

पुनर्जागरण-काल के परिणामस्वरूप भारतीय चिन्तनधारा में अनेक नई विचार-दृष्टियों का समावेश हुआ। इनमें से अधिकांश दृष्टियाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अलग-अलग और प्रायः परस्पर विरोधी खाँचे में रखकर देखने की थीं। कुछ पाश्चात्य विचारकों के लिए भारत का सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन कभी भी बहुत आकर्षण का विषय नहीं रहा। इसका कारण था कि भारतीय चिन्तन-परम्परा का स्वभाव आधुनिक पाश्चात्य सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की परम्परा के लक्षणों को प्रदर्शित नहीं करता। इसलिए वे या तो भारतीय चिन्तन-परम्परा को मिथकीय मानते हैं, अथवा वे इसके प्रति हीनता और उपेक्षा का भाव रखते हैं, या फिर वे इसके अस्तित्व को ही नकार देते हैं। भारत के सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त जानकारी को आधुनिक पाश्चात्य 'विद्वानों' ने अपने 'पाण्डित्य' के आधार पर 'व्यवस्थित' रूप देने का प्रयत्न किया। भारत पर पश्चिमी उपनिवेशवाद के विस्तार के साथ-साथ इन विद्वानों ने विदेशी सत्ता, उसकी संस्कृति, उसके ज्ञान-विज्ञान, नैतिक आदेश और अपने धर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने की दृष्टि से भारतीय संस्कृति, सभ्यता, प्राचीन भारतीय कृतियों और उसके सामाजिक-राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में अपने बौद्धिक साँचे के अनुरूप एक मनःकल्पित चित्र प्रस्तुत किया। 1977 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *ओरियण्टलिज़्म* में एडवर्ड सईद ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ओरियण्टलिज़्म वह यूरोपीय दृष्टि है, जो यूरोपीय संस्कृति को श्रेष्ठ मानने वाले विचारकों ने एशियाई, इस्लामी और अफ्रीकी संस्कृतियों के अध्ययन के लिए स्वीकार की है। यह यूरोपीय मानस में गैर-यूरोपीय संस्कृतियों की एक काल्पनिक संरचना है। इसी काल्पनिक संरचना के सन्दर्भ में उनकी साम्राज्यवादी शासन की नीतियों में संशोधन और परिवर्तन होता रहा है। भारत के प्रति

इनकी धारणाएं वही हैं, जो गैर-यूरोपीय संस्कृतियों के सम्बन्ध में थीं। बोदां, माण्टेस्क्यू, हीगेल से लेकर मार्क्स तक सभी विचारकों ने अपनी-अपनी मानसिक ग्रन्थियों के अनुरूप भारतीय जीवन-विधान का मनःकल्पित दृश्य प्रस्तुत किया है। इन विचारकों ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को निरंकुशतावादी और भारतीय सामाजिक व्यवस्था को अविकसित माना है। इनके परवर्ती विचारकों यथा मैक्स मूलर, बार्कर, विलोबी तथा डनिंग आदि ने भी भारतीय जीवन-विधान को अलौकिकता-प्रधान और यथार्थ से असम्बद्ध माना है। भारत के प्रति इस साम्राज्यवादी विचार-दृष्टि के विरोध-स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में एक राष्ट्रवादी दृष्टि का भी विकास हुआ। भगवानलाल इन्द्रजी, आर.जी. भण्डारकर, आर.एल. मित्र, उमेश चन्द्र दत्त, पुर्णेन्दु नारायण सिंह, डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल, ए.एस. अल्तेकर, वी.के. सरकार, पी.एन. बनर्जी, के.पी. रंगास्वामी अयंगर, रमेश चन्द्र मजूमदार, शामशास्त्री, ए.एन. लॉ., यू.एन. घोषाल, एस.बी. विश्वनाथ, एस.के. अयंगर, दिक्षितार तथा आर.के. मुखर्जी जैसे विचारकों ने पाश्चात्य आक्षेपों के विविध पक्षों का प्रत्युत्तर देने का प्रयत्न किया। यूरोपीय धारणा के समानान्तर प्राचीन भारत की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की दृष्टि से इन विचारकों की कृतियाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के संचालन में वैचारिक अस्त्र की तरह प्रयोग में लाई गयीं। इन्होंने निश्चित रूप से कुछ भ्रान्तियों का खंडन भी किया, पर उत्साहातिरेक में कई बार ये विचारक यह भूल गए कि यूरोपीय धारणाओं को भारतीय परम्परा में तलाशना स्वतः अपने-आप में एक प्रकार का पूर्वाग्रह है।

राष्ट्रवादी दृष्टि के साथ ही भारतीय जीवन-विधान को देखने-परखने की मार्क्सवादी और समाजशास्त्रीय दृष्टियाँ भी विकसित हुईं। श्रीपाद अमृत डांगे, डी.डी. कोशाम्बी, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर और डी.पी. चट्टोपाध्याय जैसे विचारकों ने मार्क्स और उसके समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित विविध दृष्टियों के आधार पर भारतीय जीवन-विधान की व्याख्या करने की चेष्टा की। अधिकांश मार्क्सवादी विचारक भारतीय जीवन-विधान की बहुआयामिता, उसके विभिन्न सोपानों और लक्ष्यों को एक लौह-पिंजरमय एक-आयामी सिद्धान्त के अनुरूप सिद्ध करने में अनावश्यक जोर-जबरदस्ती करते हुए प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर, चार्ल्स ड्रेकमीयर, एल. दूमां, जे. गोण्डा, जे.सी. हिस्टरमैन तथा एम.एन. श्रीनिवास जैसे विचारक समाजशास्त्रीय, भाषाशास्त्रीय और नृ-शास्त्रीय दृष्टियों का अनुशीलन करते हुए भारतीय समाज की संरचना और गतिशीलता को समझने का यत्न करते हैं। ये विचारक मुख्य रूप से आधुनिक पाश्चात्य समाजशास्त्रीय प्रारूपों को भारतीय अतीत पर आरोपित करने की चेष्टा करते हैं। आधुनिक भारत के समाज-विज्ञानियों की दृष्टि आज भी यही बनी हुई है।

* * * * *

औपनिवेशिक काल एक धर्म-प्राण देश के लिए धर्म-संकट का काल था। एक धर्म-प्राण देश अपने को जड़वादी, व्यक्तिवादी और बुद्धिवादी तर्कों एवं मान्यताओं से घिरा पाकर कभी चमत्कृत होता, कभी विस्मित होता, कभी भ्रमित होता कभी विचलित होता, तो कभी व्यथित होता। भारत में पहले मुस्लिम शासन और बाद में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की स्थापना ने एक प्राचीन सभ्यता के सहज प्रवाह को गंदला कर दिया और उसके राजनीतिक-सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त। अठारहवीं सदी में आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के प्रवेश और कालान्तर में उसके प्रसार ने हमारी परम्पराओं व आदर्शों के लिए एक विप्लवकारी स्थिति उत्पन्न कर

दी। इंग्लैण्ड ने हमें भौतिक रूप से तो पराभूत किया ही, उसके सांस्कृतिक आक्रमण ने हमें आत्मिक एवं बौद्धिक रूप से दुर्बल बना दिया। दर्शन, कला, साहित्य, राजनीति, समाज-व्यवस्था, अर्थनीति आदि सभी पर पश्चिम का रंग चढ़ने लगा। कालजयी संस्कृति काल-पुरुष के आघातों से दग्ध हो गयी।

अंग्रेजों ने भारत पर अपनी राजनीतिक विजय को अपनी सांस्कृतिक एवं प्रजातीय श्रेष्ठता का प्रमाण माना और इसलिए भारतीय संस्कृति का उपहास एवं मान-मर्दन उनकी नीति का महत्वपूर्ण अंग बन गया। अधिकांश पाश्चात्य भारतविद् हमारी ज्ञान-परम्परा एवं जीवन-दृष्टि के प्रति तिरस्कार और घृणा से लवरेज थे। जेम्स मिल, एच.एच. विल्सन, मॉनियर विलियम्स, मॉरिज़ विन्टरनिट्ज़ ने भारतवासियों का चित्रण एक आलसी व काहिल कौम के रूप में किया जिसमें मौलिक, स्वतंत्र एवं सृजनात्मक चिन्तन की सामर्थ्य नहीं है, जिसे कोई इतिहास-बोध नहीं है, और जो मानवीय समानता की विरोधी है। उन्होंने यह मानने से भी इंकार कर दिया कि भारत का कोई अपना स्वदेशी राजनीतिक चिन्तन रहा है। भारत के साम्राज्यवादी शासकों- लार्ड डफरिन, लार्ड कर्ज़न, लार्ड मिन्टो जैसे वायसराय और जार्ज हैमिल्टन जैसे भारत-मंत्री ने अपनी राजकीय घोषणाओं में बार-बार कहा कि भारत एक राष्ट्र है ही नहीं। उनकी दृष्टि में भारत भिन्न-भिन्न धर्मों, जातियों, समुदायों व क्षेत्रों का समूह था, जिनके अलग-अलग हित थे और जिन्हें केवल अपने जातीय, धार्मिक अथवा क्षेत्रीय हितों से सरोकार था। उनकी दृष्टि में मैकाले की कूटनीति सफल रही। भारत में अंग्रेज-भक्त काले साहबों का एक बड़ा वर्ग पैदा हो गया जो भारतीय संस्कृति व परम्परा के प्रति शंकालु हो गया, और शनैः-शनैः अपनी प्राचीन सभ्यता के प्रति उपहास, अनास्था और निन्दा के वही भाव रखने लगा जो तथाकथित भारतविद् या हमारे हुक्मरान रखते थे। इस नव-शिक्षित वर्ग के वैचारिक व मानसिक कायाकल्प को भारत-प्रेमी कलाविद् सर जार्ज बर्डवुड ने इस प्रकार चित्रित किया है-

Our education has destroyed their love of their own literature and delight in their own arts, and worst of all their repose in their own traditional and natural religion. It has disgusted them with their own homes- their parents, their sisters, their very wives. It has brought disaster into every family, sofar its baneful influences have reached.

इन साम्राज्यवादी शासकों और तथाकथित भारतविदों को उनके राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थों तथा उनके प्रजातीय दंभ ने विवेक और न्याय-बोध से वंचित कर दिया था। फिर उनमें भारत की धर्म-केन्द्रित सभ्यता को सम्यक् रूप से समझने की सांस्कारिक, बौद्धिक एवं नैतिक सामर्थ्य भी नहीं थी। उनकी साम्राज्य-लिप्सा, धन-लिप्सा उन्हें भारत लायी थी। अठारहवीं सदी के फ्रांस के महान दार्शनिक वाल्टेयर ने इन साम्राज्यवादी देशों के अधम उद्देश्य पर बेबाक टिप्पणी की है- ''यूरोप के देश भारत में धन की खोज में गए और इसी में अपने को बर्बाद कर लिया, जबकि प्राचीन यूनान के लोग भारत में ज्ञान की खोज में जाते थे। ... पश्चिम की बर्बर जातियों को जब से भारत की जानकारी हुयी तभी से वे भारत की ओर लालच भरी दृष्टि से देखने लगीं और ज्यों-ज्यों ये बर्बर जातियाँ सभ्य होने लगीं, उनकी नई नई आवश्यकताएं जन्म लेने लगीं।''

भारत में पश्चिमी शिक्षा-पद्धति के आगमन के साथ पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का पठन-पाठन प्रारंभ हुआ, और शीघ्र ही व्यक्तिवादी-उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्त एवं संस्थाएं आधिकारिक एवं प्रामाणिक माने जाने लगे। भारत के शिक्षित वर्ग के लिए हॉब्स, मेकियावेली, लॉक, रूसो, जे.एस. मिल, हरबर्ट स्पेंसर जैसे राजनीतिक चिन्तक अधिकारी विद्वान बन गए और उनके सिद्धांत, उनके तर्क और विचार-दृष्टि प्रमाण मानी

जाने लगी। राज्य, राष्ट्र, विधि, स्वतंत्रता आदि पर इहलोकवादी दृष्टि से विचार होने लगा, और यही दृष्टि अन्ततः 'वैज्ञानिक' दृष्टि घोषित की गयी। उदारवादी लोकतंत्र की संस्थाओं व प्रक्रियाओं में भारत का भावी कल्याण तलाशा जाने लगा। भारत में जो प्रशासनिक और वैधानिक ढाँचा स्थापित किया गया, वह इंग्लैण्ड की प्रशासनिक एवं वैधानिक मान्यताओं व संस्थाओं का प्रतिबिम्ब था। 1858 से 1935 तक पारित अधिनियमों के अध्ययन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि न केवल राजनीतिक और वैधानिक संस्थाओं का मूल चरित्र अभारतीय था, वरन् संवैधानिक सुधारों के नाम पर शासन व विधायन के क्षेत्र में भारतीयों को केवल छुटपुट भागीदारी ही प्रदान की जाती थी। राजनीतिक एवं वैधानिक संस्थाओं में भागीदारी की भारतीयों की मांग को सामान्यतः यह कह कर ठुकरा दिया जाता था कि अभी भारतवासी स्व-शासन के योग्य नहीं हैं; और भारत में स्वशासन की मात्रा व समय के निर्धारण का प्रश्न ब्रिटिश शासकों पर छोड़ दिया जाना चाहिए।

विडम्बना यह है कि स्वतंत्रता के उपरान्त इस संशय और द्वन्द्व का इतना विस्तार हुआ कि अब हम निर्द्वन्द्व रूप से विजातीय मानदण्डों व मूल्यों से नियंत्रित व निर्देशित हैं। हमारे राष्ट्रीय मानदण्डों एवं मान-बिन्दुओं का इस प्रकार हाशिये पर ढकेले जाना हतप्रभ कर देता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने किस प्रकार भारत की आत्मा में विभाजन उत्पन्न कर दिया, किस प्रकार भारतीयों की सोच 'छाया सोच' (Shadow Mind) बनकर रह गयी, किस प्रकार देशभक्त एवं निष्ठावान राजनेता द्वन्द्व एवं दुविधा से ग्रस्त हो गए, इसका अनुमान हम उक्त विचारों से लगा सकते हैं। जिन दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटेन के द्वारा भारत के आर्थिक शोषण को प्रसिद्ध 'दोहन सिद्धांत' (Drain Theory) के द्वारा प्रकट किया, जिन गोपाल कृष्ण गोखले ने ब्रिटिश शासन को भारतीयों के नैतिक पतन के लिए उत्तरदायी माना, वही नौरोजी एवं गोखले ब्रिटिश शासन को 'अखंड शांति' और 'असीम कल्याण' का वाहक भी मानते थे। वस्तुतः, साम्राज्यवाद शासितों को मानसिक रूप से दुर्बल कर देता है। यह दुर्बलता पहले द्वन्द्व/दुविधा में प्रकट होती है और शनैः-शनैः अनुकरण-वृत्ति (Mimicry) में घनीभूत हो जाती है। 'स्व' और 'पर' का यह घालमेल अन्ततः सांस्कारिक और वैचारिक संकरता (Hybridity) को पोषित-पल्लवित करता है। एशिया और अफ्रीका के देशों का विगत लगभग दो सौ वर्षों का इतिहास इसी प्रक्रिया का गवाह एवं प्रमाण है।

* * * * *

हमें स्मरण रखना चाहिए कि जब इस देश का स्वाधीनता-आन्दोलन अपना आरम्भिक स्वरूप ग्रहण कर रहा था और ब्रिटिश हुकूमत की तत्कालीन नीतियों के सम्बन्ध में अपनी भावी दृष्टि को विकसित कर रहा था, भारतीय सभ्यता के इस संधिकाल में कुछ विलक्षण विचारकों का उदय हुआ, जिन्होंने न केवल भारत की राजनीतिक स्वाधीनता के आन्दोलन को बल प्रदान किया, वरन् इतिहास के इस पड़ाव पर भारत के भविष्य को लेकर मार्गदर्शन भी किया। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, रविन्द्रनाथ टैगोर, आनन्द कुमारस्वामी, के.सी. भट्टाचार्य, बद्रीशाह, श्री अरविन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती, महामहोपाध्याय मोतीलाल शर्मा शास्त्री, म.म. गोपीनाथ कविराज तथा धर्मसम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज जैसी विभूतियों का भारतीय विचार-व्योम में प्रकट होना दैवीय सम्बल के समान है। इन विभूतियों से प्रेरणा ग्रहण करके ही स्वातन्त्र्योत्तर भारत में पं. दीनदयाल उपाध्याय जैसी विभूतियों ने समसामयिक संदर्भ में अपने सनातन जीवनादर्शों से विचलित न होते हुए अपने मार्ग को खोजने का यत्न किया। ये सभी विभूतियाँ एक साथ इस वैचारिक संक्रमण के दौर में

हमारे लिए एक सेतु का कार्य कर रही थीं। ध्यान देने की बात है कि ये सभी विभूतियाँ अपने चित्त और मानस के स्तर पर भारतवर्ष की सनातन परम्परा में रची बसी तो थीं ही, इन्हें आधुनिक पश्चिमी/यूरोपीय मनोवृत्ति की निर्मिति के काल-क्रम का भी भली-भाँति बोध था। इन परम्परानिष्ठ भारतीय मनीषियों ने यह मौलिक प्रश्न उठाया कि आधुनिक पश्चिमी चिन्तन की अवधारणाओं को प्राचीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन पर आरोपित करना भारतीय चिन्तन के स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल है या नहीं? इन विभूतियों ने भारतवर्ष को वैचारिक संक्रमण या दुविधा के इस काल से बाहर निकलने का युक्ति-युक्त मार्ग सुझाया। ये सभी विभूतियाँ एक साथ भारत-बोध और सभ्यता-बोध से सुसम्पन्न थीं। तिलक ने अपने *गीता-रहस्य* के माध्यम से, विवेकानन्द ने अपने 'कर्मयुक्त वेदान्त' के माध्यम से, गांधी ने अपने *हिन्द स्वराज* के माध्यम से, कुमारस्वामी ने अपने *Essays in National Idealism* के माध्यम से, टैगोर ने भारत, जापान और पश्चिम में राष्ट्रवाद सम्बन्धी अपने भाषणों के माध्यम से, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने *Swaraj in Ideas* के माध्यम से, बद्रीशाह ने *दैशिक-शास्त्र* के माध्यम से तथा श्रीअरविन्द ने *Foundations of Indian Culture* के माध्यम से इसी भारत-बोध और विश्व-बोध को संसूचित करने अथवा भारतीय चिति की पुनर्गवेषणा करने की चेष्टा की। स्वातन्त्रयोत्तर भारत में केवल पं. दीनदयाल उपाध्याय ऐसे विचारक दिखायी देते हैं, जो इन शाश्वत महत्व के विषयों पर व्यवस्थित रूप से विचार करते हैं। अप्रैल 1965 में बम्बई में दिए गए उनके चार व्याख्यानों को प्रत्येक विद्यार्थी, शिक्षक, नीति-निर्माता, विचारक और राजनेता को अवश्य पढ़ना चाहिए। 'एकात्म मानववाद' के प्रतिपादन के क्रम में उन्होंने भारतीय इतिहास-बोध, राष्ट्र-बोध और विश्व-बोध का जो अन्योन्याश्रित सम्बन्ध उद्घाटित किया है, वैसा अध्ययन या वैसी प्रस्तुति स्वतंत्र भारत के राजनेताओं के लिए दुर्लभ है। जे.पी. आन्दोलन के बाद यह अंधकार और भी घनीभूत होता दिखायी देता है। द्रष्टव्य है कि ये सभी विचारक भारत-बोध के नाम पर अपनी राष्ट्रीय विशिष्टता का सांगोपांग संपोषण करते हुए भी न तो कभी संकीर्णता के शिकार हुए और न ही विश्व-बोध के नाम पर संपूर्ण सृष्टि के साथ एक स्वाभाविक तारतम्य स्थापित करते हुए भी कभी अमूर्तता और अव्यावहारिकता के शिकार हुए।

* * * * *

1921 में एक महात्मा के प्रसाद-स्वरूप बद्रीसाह की पुस्तक *दैशिक-शास्त्र* प्रकाश में आई। भारतवंशियों को उनके पराधीनता-काल में अपने देश-जाति-धर्म का बोध कराने वाली यह अद्भुत पुस्तक है। लोकमान्य तिलक को समर्पित इस पुस्तक के विषय में 'नवजीवन' में 18 फरवरी, 1923 को अपना मत व्यक्त करते हुए गांधीजी ने कहा है कि 'भगवद्गीता और उपनिषदों को यदि कोई राजनीति की भाषा में पढ़ना चाहें तो वे इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें तथा जिन-जिन राष्ट्रीय विद्यालयों में राजनीतिशास्त्र पढ़ाया जाता है, वहाँ तो यह पाठ्य-पुस्तक के तौर पर रखे जाने योग्य है'। श्रीबद्रीसाह कृत *दैशिक-शास्त्र* पाँच अध्यायों में विभक्त है। इन अध्यायों में देशभक्ति-तत्त्व, दैशिकधर्म, स्वतन्त्रता, विराट् तथा दैवीसम्पद्योगक्षेम विषयों को विभिन्न आन्हिकों में वर्णित किया गया है। बद्रीशाहकृत *दैशिक-शास्त्र* में जाति के प्रकरण को चिति और विराट् की धारणाओं की सहायता से स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। *दैशिक-शास्त्र* के अनुसार किसी भी जाति के, चाहे वे भारतवंशी हों अथवा यूनानवंशी, दो तत्त्व प्रधान समझे जाते हैं- चिति और विराट्। बद्रीसाह राष्ट्र की आत्मा को 'चिति' तथा उसके ऐश्वर्य को 'विराट्' कहते हैं। उनका कहना है कि किसी भी

राष्ट्र का अभ्युदय चिति के प्रकाश और विराट् की जागृति से ही संभव होता है। चिति में ही किसी राष्ट्र का सम्पूर्ण चरित्र समाहित होता है। चिति किसी जाति के चरित्र-वैशिष्ट्य की ओर इंगित करती है। जब तक चिति जागृत और निरामय रहती है, तब तक जाति का अभ्युदय होता रहता है, चिति का तिरोधान होने पर अथवा उसमें किसी प्रकार का विपर्यास आने से जाति का अवपात होने लगता है, और चिति का लोप हो जाने पर जाति निश्चेतन देह के समान निष्प्राण, निष्क्रिय, निष्चेष्ट हो जाती है। ऐसी चिति-शून्य जाति के लिये दूसरे की भोज्य-वस्तु बने रहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। राष्ट्रों के उदयावपात के पूर्व विराट् का उदयावपात हो जाता है, और विराट् का उदयावपात होता है, चिति के आविर्भाव और तिरोभाव से।

दूसरी ओर विराट् सामाजिक जीवों को प्रदत्त एक विशष प्रकार के सहानुभूतियुक्त तेज को कहते हैं। यह तेज ही व्यष्टि को समष्टि के हितार्थ आत्मत्याग करने को प्रेरित करता है, जिससे व्यष्टियों में परस्पर सहानुभूति रहती है, और समष्टि की रक्षा के लिये व्यष्टिगत शक्ति न्यूनाधिक रूप में एकीभूत होकर केन्द्रस्थ रहा करती है। ध्यातव्य है कि यह विराट् व्यक्तियों के हृदय में चिति के प्रकाश से ही जागृत होता है, चिति के अन्तर्हित होने पर विराट् का भी ह्रास होता चला जाता है। यह विराट् जाति रूपी शरीर का प्राण है। जिस प्रकार मनष्य-देह में समस्त मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ एक प्राण के रूपान्तर होती हैं, उसी प्रकार जाति की समस्त दैशिक चेष्टाएँ उसी विराट् का रूपान्तर होती हैं। जैसे शरीर में जब तक प्राण रहता है तब तक उसमें अन्नादि से बल-संचय होता रहता है किन्तु प्राण के चले जाने पर, शरीर के चले जाने पर शरीर के तत्त्व अपने काम न आकर दूसरे के काम में आने लगते हैं।

इसी प्रकार जब तक विराट् ठीक रहता है, तब तक जाति का स्वास्थ्य भी ठीक रहता है, और जब मिथ्या आचार-विचार से विराट् का स्वरूप धुंधलाने लगता है, तो जाति रूपी शरीर में स्वार्थ रूपी महाव्याधि उत्पन्न हो जाती है। उसके सब अंग निस्तेज, निर्बल और प्रतिरोधहीन हो जाते हैं, सबको अपनी-अपनी सूझने लगती है, परिणामतः वह सान्निपातिक दोषों से युक्त हो जाता है, और दिन-प्रतिदिन उसका शतोमुखी पतन होने लगता है। इस प्रकार, देशरूपी वस्त्र को धारण किये हुए जाति-रूपी शरीर की आत्मा चिति है, और प्रकाश विराट्। चिति और विराट् का सम्यक् सामंजस्य ही किसी देश की समुन्नति का अन्तर्निहित कारण है। दूसरे शब्दों में, चिति किसी राष्ट्र का चरित्र-वैशिष्ट्य है, और विराट् जागृत चिति के द्वारा मनष्य के हृदय में उत्पन्न वह प्रकाश है, जो इस वैशिष्ट्य के प्रति मनुष्य को आत्मत्याग करने की प्रेरणा देता है। जागृत चिति के अभाव में विराट् का प्रकाश भी धुँधला पड़ जाता है, और राष्ट्र का अवपात हो जाता है। इस प्रकार, देश अथवा राष्ट्र जातीयता की प्रतिष्ठा है। अतः किसी राष्ट्र की चिति को जागृत और निरामय रखने के लिए उच्चकोटि के कर्मयोग की आवश्यकता होती है, बद्रीसाह इसी को दैशिक-धर्म कहते हैं।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय सनातन परम्परा में इस प्रकार का प्रयास अपने ऋषि-ऋण को चुकाने का प्रयास है। इस विचार में यह तथ्य भी अन्तर्निहित है कि भारतीय परम्परा में किसी भी जननायक अथवा विचारक का महत्व इसी बात में निहित है कि वह अपनी सनातन परम्परा के सत्व की रक्षा के प्रति कितना उद्यत, समर्पित, आग्रही तथा सतर्क है। उक्त सभी विचारकों के महत्व को इसी दृष्टि से समझा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के सभी विचारक समसामयिक सम्दर्भों में अपनी परम्परा की ओर संकेत करने वाले प्रबल संकेतक हैं- इन सभी का महत्व इसीलिए है। इन सभी के प्रति हमारे मन में

आदर का भाव इसलिए है क्योंकि अपनी सनातन परम्परा के प्रति हमारी प्रतिबद्धता असंदिग्ध और अटूट है। इसलिए इन विचारकों तथा इनसे संबंधित अवसरों के माध्यम से हमारा प्रयास यही होना चाहिए कि हम अपनी सनातन परम्परा के जीवनादर्शों को न केवल समझने का यत्न करें वरन् उन्हें जीवन में धारण करने का भी प्रयास करें। अनेकानेक प्रतिकूलताओं के उपरान्त भी मात्र इस संकल्प से बड़ा प्रभाव पड़ सकता है कि आधुनिक और परम्परागत जीवन-दृष्टि में से हमारी प्राथमिकता क्या है। यदि आधुनिक जीवन-दृष्टि और आधुनिक जीवन-विधान हमारी प्राथमिकता हैं, तो ऐसे विचारक और इनके विचार हमें कालबाह्य, अप्रासंगिक और अव्यावहारिक लगने लगेंगे; और यदि परम्परागत जीवन-दृष्टि और तदनुरूप जीवन-विधान हमारी प्राथमिकता है तो अनेक प्रतिकूलताओं के बीच भी हम इस प्रकार के जीवन के लिए स्थान, समय और उपाय खोज ही लेंगे। इसलिए इन विचारकों के विचारों पर विचार करने से पूर्व हमें अपनी प्राथमिकता सुनिश्चित कर लेनी चाहिए कि अपने आधुनिक जीवन-विधान के बीच इन विचारकों के लिए हम स्थान तलाश रहें हैं, अथवा इन विचारकों से मार्गदर्शन प्राप्त करके हम जटिल आधुनिक जीवन के बीच से भी अपने लिए मार्ग बनाना चाहते हैं। हमारे वैचारिक निष्कर्ष और हमारी व्यावहारिक उपलब्धियाँ इसी प्राथमिकता के निर्धारण पर टिके हैं। इन विचारकों के साथ हमारी संगति का आधार यह प्राथमिकता ही है। वैसे तो भारतीय काल-विधान के अनुसार यह कलिकाल है। धर्म के चार चरणों में से एक चरण ही शेष है। धर्म का सांगोपांग, समग्र और व्यापक उन्मीलन संभव नहीं है। द्वन्द्व की स्थिति में रहना हमारी नियति है। किन्तु, हमारी प्राथमिकताएँ, हमारे झुकाव हमारी नियति को एक प्रभावपूर्ण और निर्णायक आयाम देने में सक्षम हैं।

* * * * *

आनन्द कुमारस्वामी के पिता सर मुत्थु कुमारस्वामी मुदालियर सिंहल के अत्यंत प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे तमिल मूल के हिन्दू थे, बड़े प्रबुद्ध, शायद उस ज़माने में बैरिस्टरी करने वाले कुछ थोड़े से भारतीयों में से; स्वयं पाली के बड़े अच्छे विद्वान थे। 'दठा वंश' और 'सुत्तनिपात' नामक ग्रन्थों का उन्होंने अंग्रेज़ी में सर्वप्रथम अनुवाद किया था। 1876 में उन्होंने प्राचीन घराने की एक अंग्रेज़ महिला से विवाह किया और 22 अगस्त, 1877 को इस दम्पती से आनन्द कुमारस्वामी का जन्म हुआ। आनन्द अभी दो वर्ष के भी नहीं हुये थे कि उनके पिता का देहान्त हो गया और उनकी माता इन्हें इंग्लैण्ड ले आयीं। वे 1942 तक जीवित रहीं। कुमारस्वामी की शिक्षा यूनिवर्सिटी कालेज, लन्दन में हुयी जहाँ से उन्होंने भूगर्भशास्त्र में बी.एससी. और डी. एससी. की परीक्षा प्रथम श्रेणी प्रथम स्थान से उत्तीर्ण की। इसके उपरान्त वे श्रीलंका आ गए जहाँ 1903 में मिनरोलॉजिकल सर्वे, सीलोन के डायरेक्टर के पद पर नियुक्त हुए और 1906 तक इस पद पर कार्य करते रहे। वैज्ञानिक विश्लेषण में प्रवीणता और तथ्य को ग्रहण करने की प्रवृत्ति, इन दो गुणों का परिचय उनकी इस समय की लिखी हुयी सिंहल की भूगर्भ और खनिज-सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्टों और लेखों से मिलता है। उसी समय उन्होंने 1904 की रिपोर्ट में सिंहल के खनिज-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों और रत्नों के सम्बन्ध में एक लेख लिखा, जो भारतीय कला की पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में उनके भविष्योन्मुखी गवेषणा का मानो प्रथम प्रयास था।

एक वैज्ञानिक का उर्वर मस्तिष्क और एक कलाकार का भावुक हृदय- इन दोनों की भूमि में राष्ट्रीय भावों का अंकुर कुमारस्वामी के मन में शीघ्र ही प्रस्फुटित हुआ। इस अंकुर का विकास एक यज्ञ के रूप में एक उच्चतर निर्मिति के लिए होता गया। सिंहल के प्राचीन उद्योग-धंधे, कला, रहन-सहन और जीवन की

सुन्दर पद्धति पर पश्चिम के प्रहार और जीवन में बढ़ती हुयी कुरूपता को देखकर कुमारस्वामी अत्यंत चिंतित हुए। मातृभाषा की शिक्षा और प्राचीन कला और शिल्प के विषय में अपने देश-वासियों की रुचि जागृत करने के लिए उन्होंने 'सीलोन सोशल रिफार्म सोसायटी' की स्थापना की और 1906 में अपने संपादकत्व में 'सीलोन नेशनल रिव्यू' नामक पत्र प्रकाशित किया। शीघ्र ही सरकारी पद से त्यागपत्र देकर वे जीवन की समस्याओं के साथ आमने-सामने जूझने के लिए कार्यक्षेत्र में उतर आए और विलायत जाकर वहाँ विलियम ब्लैक, जॉन रस्किन, विलियम मॉरिस, थॉमस कार्लाइल, चार्ल्स डिकेन्स और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे विचारकों के साथ इस कार्य में जुट गये, जो उन्हीं की तरह इंग्लैण्ड के सामाजिक जीवन में कला के उद्धार के पक्षपाती थे। इसी समय 'मेडीवल सिंहलीज आर्ट' नामक उनका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जिसमें सिंहल के प्राचीन उद्योग-धन्धों और कलाओं का स्थानीय पारिभाषिक शब्दावली के साथ विशद अध्ययन है। यूरोप की अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के अध्ययन बहुत कम हैं। बड़े आकार के इस ग्रन्थ में अधिकांश रेखा-चित्र स्वयं कुमारस्वामी के बनाए हुए हैं।[1]

1909 में कुमारस्वामी भारतवर्ष आए और पहली बार उन्होंने देशव्यापी यात्रा करके यहाँ के विशाल मन्दिरों तथा कला-सामग्री को स्वयं अपनी आँखों से देखा। अपनी खोज मिट्टी के भीतर से शुरू करते हुये वे भारत के कला-शिल्प का साक्षात्कार कर रहे थे। जिस वस्तु ने पश्चिम में दीक्षित और अत्यन्त विकसित अन्तश्चेतना वाले इस व्यक्ति को आकृष्ट किया वह वस्तु थी- भारतीय शिल्पी की साधना! जिस किसी हस्तशिल्प और उसके कौशल को उन्होंने देखा, वहीं उन्होंने पाया कि इस संस्कृति में कितनी सम्पन्नता है और इसकी तुलना में औद्योगिक संस्कृति में कितनी दरिद्रता है।[2] 1910 में कुमारस्वामी दूसरी बार भारत आए और भारत-भ्रमण करते हुये उनका परिचय स्वदेशी-जागरण से हुआ, गांधी जी के आन्दोलनों से हुआ तथा रविन्द्रनाथ ठाकुर और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर से भी हुआ। वे कलकत्ते में तीन सप्ताह तक विख्यात ठाकुर-परिवार के अतिथि रहे। अपनी भारत-यात्रा के दौरान कुमारस्वामी ने चित्रों और मूर्तियों का एक बहुत ही विशिष्ट संग्रह एकत्र किया, जिसे वे काशी में स्थित किसी 'राष्ट्रीय कला मन्दिर' जैसी संस्था को देना चाहते थे। तत्कालीन परिस्थितियों में ऐसा संभव न होने पर वे इस संग्रह को लेकर अमेरिका आ गए और बोस्टन के संग्रहालय में भारतीय कला का एक विशेष विभाग स्थापित कर उन्हें वहाँ सुरक्षित कर दिया। कुमारस्वामी आजीवन इस विभाग के क्यूरेटर बने रहे। समय-समय पर हिन्दू, मुस्लिम और इरानी कला की नयी सामग्री जोड़कर उन्होंने इस संग्रह का न केवल विस्तार किया, वरन् अपने लेखन से उसे प्रकाशित भी करते रहे। आज बोस्टन म्यूज़ियम भारतीय कला का दुर्लभ तीर्थ-स्थान बना हुआ है। भारत के बाहर अन्यत्र कहीं भारतीय कला की इतनी विशिष्ट और बहुविध सामग्री एक स्थान में सुरक्षित नहीं है। कार्लाइल के शब्दों में कुमारस्वामी ऐसे बड़भागी हैं जिन्हें अपने जीवन में अपनी रुचि का कार्य करने को मिल गया, ऐसे व्यक्ति को फिर किसी और वरदान की चाह नहीं होनी चाहिए।[3] कुमारस्वामी का बोस्टन के सरस्वती-मन्दिर में तीस वर्षों का जीवन प्राचीन भारतीय मनीषियों की तरह निरन्तर अविचल ज्ञान-साधना में व्यतीत हुआ। खाली समय में उपवन-विनोद और मत्स्य-विनोद जैसे अपनी रुचि के दो कार्यों के अतिरिक्त लौकिक जीवन की ओर से उन्होंने अपने मन को जिस स्थिति में मोड़ लिया था उसे बौद्ध शब्दों में 'आकिंचञ्ञा' अथवा कुमारस्वामी के स्वयं के शब्दों में (Self-naughting) ही कहा जा सकता है।[4]

इस प्रकार बाहरी जीवन में अपने आप को मिटाकर उन्होंने विचारों के क्षेत्र में अपनी आत्मा को सब प्रकार से पुष्पित, फलित एवं लोक-प्रतिमण्डित बनाने का सतत् प्रयत्न किया। यूरोप, इस्लामी जगत्, भारत, चीन और जापान के प्राचीन और नवीन धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के अवगाहन में उन्होंने अपने आप को डुबो दिया था। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, भगवद्गीता, महाभारत, रामायण, भागवत, गीतगोविन्द, कबीर, विद्यापति, बौद्ध निकाय, धम्मपद, मिलिन्द पन्ह, सद्धर्भ पुण्डरीक आदि भारतीय वाङ्मय में अपनी अन्तःदृष्टि से वे रम गए थे। इसके साथ-साथ स्कैण्डिनेविया के वोल्सुंग, आइसलैण्ड के एड्डा और सागा, प्राचीन वेल्स के मेबीनीगिअन गाथा-शास्त्र, तथा प्लेटो, प्लॉटिनस, ईसाई धर्मग्रन्थ, सेंट टॉमस एक्वीनास और माइस्टर एक्हार्ट आदि के आध्यात्मिक ग्रन्थों का मनन करके पूर्व और पश्चिम के गाथा-शास्त्र, अध्यात्म-विद्या और कला-विधान की मौलिक एकता को उन्होंने पहचान लिया था। वे ज्ञान की एकता को प्रदर्शित करने वाली भारतवर्ष की अत्यन्त प्राचीन मान्यता 'बहुधाप्यागमैभिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः' का पुनर्स्मरण करते हैं। पूर्व के ज्ञान और आध्यात्मिक अभिप्रायों की सहायता से उन्होंने मध्यकालीन ईसाई धर्म की एक अप्रतिम व्याख्या प्रस्तुत की, जिसने पश्चिम के अनेक सुधी-जनों को प्रभावित किया। वैदिक ज्ञान के विषय में वे प्राचीन सनातनी व्याख्या और अनुश्रुति का समर्थन करते हुए उसमें एक नवीन अर्थ भर देते हैं। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वे इस तात्त्विक एकता को और भी स्पष्ट रूप से देखने लगे थे। *Philosophia Perennis* या सनातन धर्म में अन्तर्निहित इस ज्ञान-निष्ठता को सभी सम्प्रदायों के धार्मिक ग्रंथों, सन्तों-मनीषियों के अनुभवों तथा कला और संस्कृति की अभिव्यक्ति में वे अन्तर्भूत पाते थे। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, भक्ति-सम्प्रदाय, पुराण और संतमत- इन सबके भीतर की एकसूत्रता को इन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से पकड़ लिया था। इसी अन्तर्यामी सूत्र को ईसाई धर्म, चीनी-दर्शन, इस्लाम और सूफी दर्शन के भीतर भी वे स्पष्टता के साथ गुंथा हुआ पाते थे। इन धर्मों के मौलिक ग्रन्थों और विश्व के प्राचीनतम गाथा-शास्त्रों का उन्होंने विशद और गहन अध्ययन किया तथा खुले हृदय से वे अपने आपको इनका ऋणी मानते थे। मानवी विचार और धर्मों की इस तात्त्विक एकता का जो विवेचन भाषा, तर्क और ज्ञान की अपरिमित शक्ति से कुमारस्वामी ने प्रस्तुत किया उसने पूर्वी और पश्चिमी दोनों भूखण्डों में मनीषियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। बहुलता की भारतीय संकल्पना का आधार यही तात्त्विक एकता है।

वैदिक स्थापनाओं को मानवीय ज्ञान और कला की मूल कुंजी मानकर कुमारस्वामी ने उनकी विलक्षण व्याख्या की है, जो प्राचीन होते हुए भी नूतन है। इस 'वैदिक मनीषा' के अवगाहन को वे अपने जीवन की सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धि मानते थे। लोक में उनकी कीर्ति मूर्तकला के अनन्य व्याख्याता के रूप में हुई। भारतीय कला के इतिहास और परिचय के सम्बन्ध में उनका कार्य युग-निर्माताओं के स्तर का था। कला-परायण साहित्य-साधना की जो पुण्यधारा कुमारस्वामी से चालीस वर्षों तक प्रवाहित होती रही, उसके तटों पर अनेक उपयोगी ग्रन्थों और लेखों के सुन्दर तीर्थ स्थापित हैं।[5] कला उनके लिए मन के कुतूहल अथवा बुद्धि के व्यसन का विषय न होकर जीवन के उच्च आसन पर धर्म, अध्यात्म, दर्शन और साहित्य के सदृश ही विद्यमान है। कला के माध्यम से ही उन्होंने समस्त शास्त्रों और विद्याओं की एकवाक्यता को अभिव्यक्त किया है। जीवन का बहुविध वैविध्य इसी एकवाक्यता की बहुरंग अभिव्यक्ति है, और यही बहुरंगता बहुलता की भारतीय संकल्पना का आधार है।

* * * * *

पंडित विद्यानिवास मिश्र अपने एक निबन्ध में आनन्द कुमारस्वामी के सम्बन्ध में उनके एक समीक्षक के हवाले से उद्धृत करते हैं कि इतनी गणितात्मक, सूत्रात्मक शैली में, इतनी परिच्छिन्न शैली में, इतनी प्रिसाइज शैली में आदमी लिखे और ऐसा लगे कि अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहा है, जो कुछ कह रहा है कहीं न कहीं तो उसके प्रमाण मौजूद हैं- एक विस्मय है। और प्रमाण कहाँ-कहाँ से लिए हैं? *शतपथ ब्राह्मण* से, जलालुद्दीन रूमी से, मीस्टर एकार्ट से, एक्वीनास से, प्लेटो से, प्लॉटिनस से और उसके साथ ही ऐसी जातियों की लोक-वार्त्ता से जिनको लोग उस समय भी केवल नृतत्व के विश्लेषण का विषय मानते थे- 'इनसे क्या प्राप्त हो सकता है, सभी पिछले अविकसित चरण के हिस्से हैं, पिछड़े हुए लोग हैं।' वहीं कुमारस्वामी ने प्रमाण खोजा और पाया कि उनमें ऐसी अन्तर्दृष्टि है जो आज के सभ्य संसार के लिए एषणीय है, स्पृहणीय है।[6] उनकी मौलिकता इन सबको जोड़ने में थी। वे स्वयं विश्वास करते थे कि नया कुछ नहीं दिया जा सकता है और नया देने का जो अहंकार है, वह अहंकार मनुष्य को खा जाता है। जो बड़ा कलाकार होता है, बड़ा रचनाकार होता है, वह यह संकल्प लेकर न लिखता है, न रचता है, न देता है कि वह कुछ नया दे रहा है। वह अपने को इसी रूप में अर्पित करता है कि मैं वह सूत्र हूँ जो अनेक पूर्वविद्ध मणियों के बीच से गुजरकर नई-नई मालाएँ रचता रहता है, उससे अधिक मेरी भूमिका कुछ नहीं है।[7]

कुमारस्वामी की स्मृति उनकी जिन रचनाओं में सुरक्षित है वे आज शायद बहुत कम लोगों के द्वारा पहचानी जाएँ, क्योंकि उनका समस्त चिन्तन जिस चीज पर चोट करता है, वह है आधुनिकता। वह चिन्तन प्रतिपादित करता है कि यह जो पश्चिमी संस्कृति का सूर्यास्त काल है, ये जो उसके ह्रास के चरम बिन्दु हैं, उनको एक महिमा से मण्डित करके हम आधुनिककाल कह रहे हैं और उस देश-काल की उपेक्षा कर रहे हैं जहाँ जीवन बचा हुआ है, जहाँ रोशनी बची हुई है। हम विनाश के कगार पर बैठे हुए हैं और उस रोशनी को अनदेखा कर रहे हैं। अब भी समय है कि सहज, नैसर्गिक और अनायास जो एक जीवन-पद्धति परम्परा से प्राप्त है उस पद्धति को, और उस पद्धति ने जिनसे मूल्य प्राप्त किए हैं उन प्रथम सिद्धान्तों को, उन 'First Principles' को हम पहचानें, पश्चिम के लोग पहचानें; इस दृष्टि से न पहचानें कि पूर्व हमारी ओर झुकेगा, अपनी पहचान कराएगा, बल्कि इस दृष्टि से पहचानें कि आवश्यकता हमारी है।[8] और, यह संकल्प उन्होंने अमेरिका में उन लोगों के बीच रहते हुए लिया जो सारे संसार को सभ्य बनाने का अहंकार पाल रहे थे। कुमारस्वामी ने उसी अहंकार पर चोट की थी कि 'यह तुम्हारा अहंकार है कि तुम (संसार का) कल्याण कर सकते हो; यदि इसे छोड़कर तुम केवल अच्छे बने रह सको तो यह बहुत बड़ी बात होगी। कुछ अच्छा कर सकने की तुम्हारी सम्भावना चुक गई है; और अब तुमसे अपेक्षा यह नहीं की जाती कि तुम अच्छे बने रहो, यह की जाती है कि तुम क्षति न पहुँचाओ और कृपा करके अच्छा करने का कोई संकल्प न लो, क्योंकि तुम्हारा अच्छा करने का संकल्प एक झूठे दम्भ से प्रेरित होता है, व्यक्तित्व के एक स्फीत अहंकार से प्रेरित होता है। जो तुमसे अच्छा सीखेंगे वे बहुत पहले से अच्छे हैं और तुम्हारे बावजूद अभी तक अच्छे हैं।'

कुमारस्वामी का मानना था कि परम्परागत भारतीय चिन्तन में कुछ ऐसे प्रत्यय और अवधारणाएँ हैं जिनके प्रयोग से ही हम उस चिन्तन को ठीक प्रकार समझ सकते हैं। इसलिए यह मानकर चलना कि पश्चिम का जो अनुभव है वह सार्वकालिक और सार्वभौम है; भ्रान्तिपूर्ण है। इसी कारण उन्होंने भारतीय राजनीतिक चिन्तन अथवा पूरी परम्परा के सैद्धान्तिक आलोक में सामाजिक संरचना, संस्कृति और सभ्यता को समझने के लिए परम्परा में ही निहित प्रत्ययों और अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया। कुमारस्वामी ने

सनातन दर्शन को प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, चिन्तन, कला, सामाजिक संरचना और राजनीतिक संगठन का आधार माना है। उनकी जितनी भी व्याख्यायें हैं वे मूलतः सनातन परम्परा की स्थापनाओं को स्वीकार कर प्रस्तुत की गयी हैं। कुमारस्वामी दुर्लभ अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न प्रतिभा के धनी थे और उन्होंने चीनी, अरबी, यूनानी, रोमन और मध्यकालीन यूरोपीय परम्पराओं में अनुस्यूत अन्तर्दृष्टि की गहन मीमांसा प्रस्तुत की है। अपनी इसी अन्तर्प्रज्ञा के आधार पर उन्होंने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और उसके प्रभाव की भी गहन अन्तर्आलोचना प्रस्तुत की है। कुमारस्वामी के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता व्यक्ति के मांसल पक्ष को महत्व देती है। मांसलता के साथ संपृक्त हैं उसके संवेग, परिस्थितिजन्य प्रतिक्रियाएँ, ऐन्द्रिक अनुभव और राग-द्वेष। आधुनिक पश्चिमी चिन्तन के केन्द्र में इहलौकिकता प्रतिष्ठित है- यह कुमारस्वामी का मूल निष्कर्ष है। इसी निष्कर्ष के सापेक्ष उन्होंने भारतीय राजनीतिक चिन्तन की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, दर्शन, सामाजिक संरचना और राजनीतिक संगठन की व्याख्या सनातन दर्शन के मूल सिद्धान्तों के आलोक में प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार भारतीय जीवन-दृष्टि भारतीय चिति के इन्हीं सिद्धान्तों से अनुप्राणित है, और उसी की अभिव्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिलक्षित होती है।

इस प्रकार, आनन्द कुमारस्वामी इस बात के प्रति आग्रहशील हैं कि भारतीय चिन्तन - दार्शनिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक - आधुनिक पश्चिमी सिद्धान्तों के आलोक में बोधगम्य नहीं हो सकता। इसीलिए आधुनिक पश्चिमी चिन्तन के सैद्धान्तिक स्वरूप, जैसे प्राकृतिक अवस्था, अनुबन्ध सिद्धान्त, राजाओं के दैवी अधिकार आदि को प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिए लागू नहीं करना चाहिए। जिन यूरोपीय अथवा भारतीय विचारकों ने ऐसा किया है वे प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की सम्यक् व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं। प्रायः उन्होंने आधुनिक पाश्चात्य सामाजिक-राजनीतिक प्रत्ययों को भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के बाह्य कलेवर के ऊपर अध्यारोपित कर दिया; और इस प्रकार वे भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की मूल अभिप्रेरणाओं की व्याख्या करने में असमर्थ रहे। यह असमर्थता राष्ट्रवादी उपागम द्वारा प्रस्तुत भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की व्याख्याओं में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होती है। पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय सभ्यता, संस्कृति और चिन्तन को अविकसित माना था। उनके लिए पश्चिमी चिन्तन और उसके प्रत्यय विकसित समाज के मानक हैं। ऐसे विचारकों को चुनौती देने की दृष्टि से राष्ट्रवादी मनीषियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यूरोपीय सामाजिक-राजनीतिक प्रत्ययों या सिद्धान्तों का बोध प्राचीन भारतीयों को भी था और उसी दृष्टि से उन्होंने अपनी सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ संरक्षित की थीं। उन्होंने चुनौती का जवाब देने की कोशिश तो की, किन्तु वे यह भूल गए कि अनजाने में उन्होंने भी यूरोपीय प्रत्ययों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली है। आनन्द कुमारस्वामी ने इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन वस्तुतः आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति है। इस यथार्थ को न समझते हुए केवल यूरोपीय प्रत्ययों के आलोक में अपनी उपलब्धियों को व्याख्यायित करना समूची भारतीय जीवन-प्रणाली को ही प्राणहीन बना देता है। कारण कि जिन यूरोपीय प्रत्ययों को स्वीकृति प्रदान की जाती है वे तो उन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की उपज हैं जो सार्वजनिक जीवन में आध्यात्मिकता और नैतिकता को निषेधित करती हैं।

इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर कुमारस्वामी ने परम्परानिष्ठ चिन्तन की मूलभूत अभिप्रेरणाओं को निरूपित किया है। अपनी पुस्तक *स्पीरिचुअल अथॉरिटी एण्ड टेम्पोरल पॉवर इन द इण्डियन थ्योरी ऑफ*

गवर्नमेंट में उन्होंने सनातन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को निरूपित करते हुए उनके माध्यम से पारम्परिक भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की तात्त्विक अभिव्यक्ति को प्रकट किया है। उनके अनुसार भारतीय पाणिग्रहण संस्कार के मंत्र में समाहित मित्र-वरुण, इन्द्र-अग्नि या इन्द्र-बृहस्पति जैसे युग्म-प्रत्यय सृष्टि, राज्य और परिवार तीनों ही स्तरों पर अनिवार्य अविच्छिन्न सम्बन्ध के द्योतक हैं। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में इन्हीं अर्थों में ब्रह्म और क्षत्र का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। ब्रह्म धर्म का और क्षत्र राजसत्ता का प्रतीक है।

उल्लेखनीय है कि कुमारस्वामी ने भारतीय चिति के अनुसार मनुष्य के स्वरूप की भी व्याख्या की है। मनुष्य के स्वरूप के अनुरूप ही लौकिक संस्थाओं का भी विधान किया जाता है। ये संस्थाएँ मनुष्य के आत्म-विकास में सहायक और उसकी पथ-प्रदर्शक हैं। सनातन दृष्टि में मनुष्य की अवधारणा मात्र शरीर के रूप में नहीं की गयी है। वह इससे इतर भी कुछ है, जो इतर है वह उसका अन्तःस्थ स्वरूप है। वह आत्म-सम्पन्न है, और उसका आत्मिक स्वरूप शारीरिकता में बाँधा नहीं जा सकता। उसका बोध सनातन संस्कृति में साधना-सुलभ माना गया है, किन्तु जिनके लिए यह सुलभ नहीं है उनके लिए आर्षवाणी और ऋषियों, सन्तों तथा योगियों की अनुभूति ही प्रमाण्य है। आध्यात्मिकता का उत्स मनुष्य की आत्मिकता है। उसके जीवन का लक्ष्य शारीरिक अथवा ऐन्द्रिक तृप्ति नहीं है, बल्कि उस सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि है जिसे आत्मबोध कहा गया है। आत्मोपलब्धि मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। इसे ही केन्द्र में रखकर भारतीय संस्कृति ने इस लक्ष्य के अनुरूप मूल्य-श्रृंखला सृजित की है। मूल्य कोई भी हो उसे बाह्य जीवन में सांकेतिक अभिव्यक्ति ही प्राप्त होती है। इसलिए संस्कृति का पूरा विधान सांकेतिक विधान है। इन संकेतों या प्रतीकों का अध्ययन भौतिक वस्तु मानकर नहीं किया जा सकता। यह विचारों और मूल्यों से सज्जित विधान है। संस्कृतियों की पहचान उनके मूल-विधान से होती है। उनके बाह्य रूप में बहुत कुछ ऐसा है जो दूसरी संस्कृतियों के बाह्य रूपों के समान है। जीवन-यापन के लिए कृषि-कर्म, वस्तुओं को गढ़ने-बनाने के लिए औजारों का प्रयोग, यातायात के साधन- ये सब विविध संस्कृतियों में समान दिखाई दे सकते हैं। पर जहाँ ये संस्कृतियाँ असमान हैं वह है उनका मूल-विधान। किसी भी संस्कृति का बोध तब तक अधूरा है जब तक हम उस मूल-विधान से परिचित न हों जिसे मनुष्य अपने जीवन में उतारने पर कृतार्थता अनुभव करे। आत्मोपलब्धि के इस लक्ष्य का कोई साधारणीकृत वैज्ञानिक साक्ष्य नहीं हो सकता; पर वह इसलिए प्रामाणिक है कि वह योगियों, संन्यासियों और सन्तों की स्वानुभूति है। उनका साक्ष्य ही प्रमाण है। यह उन सभी लोगों के लिए भी प्रामाणिक हो सकता है जो इस लक्ष्य के अनुरूप साधनारूढ़ हों। इसे ही आत्मानुशासन कहा गया है और इसी आत्मानुशासन की लब्धि आत्मजय और स्वराज है।

पं. विद्यानिवास मिश्र के अनुसार, भारतीय सनातन परम्परा के विशिष्ट अभिलक्षणों में एक यह भी है कि यह वाक्केन्द्रित परम्परा है। वाक्केन्द्रित कहने का तात्पर्य केवल यह नहीं है कि यह मुख्यतः वाचिक है; अंशतः यह बात सही है कि पीढ़ी दर पीढ़ी माता-पिता से संतान को या गुरु से शिष्य को सौंपी जाने वाली थाती परम्परा कहलाती है, पर यह सौंपना और यह ग्रहण करना निर्जीव व्यापार नहीं है, सौंपने वाले को सौंपने की क्षमता प्राप्त करनी होती है, ग्रहण करने वाले को ग्रहण करने की। ऐसा करने के लिए एक विशेष प्रकार की निःस्पृहता, एक विशेष प्रकार का तप दोनों के लिए समान रूप से अपेक्षित है। यही यहाँ का लोक-परिष्कार है जिसमें केवल वाक्य नहीं सौंपे जाते, वाक्यार्थ को ग्रहण करने वाला ध्यान-योग और

समर्पण-भाव भी सौंपा जाता है। भारतीय परम्परा में नियम, विधि और भाव का महत्व इनकी प्रस्तुति के माध्यम में ही निहित है। भारतीय परम्परा को वाक्केन्द्रित कहने के पीछे एक दूसरा अर्थ भी है। भारत में संस्थाबद्धता को नयूनतम महत्व मिला है, चाहे वह संस्था धर्म-संस्था हो, राज्य-संस्था हो, अथवा समाज-संस्था हो। स्वामी करपात्रीजी के अनुसार किसी भी धर्माचार्य या किसी भी शासक या किसी भी समुदाय-नायक का महत्व बस इतनी ही दूर तक है कि वह परम्परा की स्मृति को सुरक्षित रखने में कितना तत्पर है। अन्तिम प्रमाण यहाँ वाक् है, तपःपूत सर्वमय हुए द्रष्टा की वाणी। दूसरे शब्दों में इसे ही मंत्र कहा गया है जो बाह्याभ्यन्तर सम्पूर्ण सत्ता का बौद्धिक अमूर्तीकरण है। यह अमूर्तन ही भारतीय परम्परा में शक्ति के केन्द्रीकरण को अनवरत रोकता रहा है और संस्थाओं के अनाचारों का प्रतिरोध करने की शक्ति देता रहा है। इसी के कारण इस परम्परा में एक लचीलापन बना रहता है और जड़ता नहीं आने पाती। वेद, पुराण, आगम, अवदान, चरित, मंगल, पद आदि संस्कृत व लोक-वाङ्मय की नाना प्रकार की अभिव्यक्यिों के माध्यम से तथा समस्त वाक्-परम्परा के अनुभवपरक समाकलन के द्वारा इस परम्परा की गतिशीलता बनी रहती है। साथ ही उस परम्परा के वाहक इसके प्रवाह में आत्मसात् होते रहते हैं, उनका कोई निजी इतिहास नहीं बनता। इसीलिए यहाँ पाणिनि का अर्थ होता है- पाणिनीय भाषा-चिन्तन-परम्परा, व्यास का अर्थ होता है- वेदार्थ के उप-बृंहण की ओर लोक में उसके प्रसरण की लम्बी परम्परा, शंकराचार्य का अर्थ होता है- शंकराचार्य की श्रृंखला, देश के चारों कोनों में अद्वैत-भाव की साधना के जागरूक प्रहरियों की श्रृंखला, गुरु नानक का अर्थ हो जाता है- गुरु-परम्परा, तुलसी का अर्थ हो जाता है- रामलीला की, रामकथा की अनवच्छिन्न धारा। व्यक्ति के रूप में इन सबका कोई महत्व नहीं रह जाता। ऐतिहासिकता के आधुनिक आग्रह ने इन सबके व्यक्तिगत जीवन को अलग देखने की कोशिश शुरू की, पर उनकी खोजों से कुछ सूचनात्मक ज्ञान की वृद्धि भले हुई हो, परम्परा की सक्रियता को समझने में इन खोजों से कोई विशेष सहायता नहीं मिली है, कभी-कभी तो इन खोजों ने बुद्धि-विभ्रम भी पैदा किया है। आधुनिक इतिहासकार यह भूल जाते हैं कि भारतीय परम्परा में इतिहास अनन्त की लोकयात्रा है। इसीलिए यहाँ शास्त्रविधि जानने वाले व्यक्ति को लोकविधि का भी ध्यान रखना पड़ता है। यह विधि इतनी समावेशक और इतनी संश्लिष्ट है कि इसे ठीक-ठीक परिभाषित करना संभव नहीं है। इसका आदि-स्रोत ढूँढ़ना इसीलिए बड़ा कठिन है। बहुत से लोकाचार, लोकानुष्ठान और उनके अंगभूत लोकगीत और लोकाख्यान कहीं-कहीं तो वैदिक मन्त्रों की गूँज जान पड़ते हैं, कहीं-कहीं बहुत से तान्त्रिक अनुष्ठानों की प्रतिध्वनि वहाँ मिलती है। कौन पहले है, कौन बाद में- यह निर्णय करना कठिन है, परन्तु इस निर्णय की अपेक्षा ही नहीं रखती परम्परा; परम्परा तो संश्लिष्ट है, वह जिस बिन्दु पर है, उस बिन्दु पर सम्पूर्ण है, उसमें कितना प्रतिशत वैदिक है, कितना तांत्रिक, कितना जनजातीय, यह विश्लेषण अनावश्यक है। इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए विद्यानिवासजी कहते हैं कि भारतीय सनातन परम्परा में जीवन की अखण्डता और निरन्तरता, देशकाल के प्रति सजग रहते हुए भी इसके अतिक्रमण के लिए प्रयत्नशीलता तथा शास्त्र का लोकापेक्षी और लोक का शास्त्र-भावित होना विद्यमान है।[9] कुमारस्वामी इस शास्त्र-सम्मत, चिति-सम्मत एकता से उद्भूत लोक-सम्मत बहुलता के प्रखर व्याख्याकार हैं।

* * * * *

1909 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *एसेज़ इन नेशनल आइडियलिज़्म* में कुमारस्वामी ने भारतीय सांस्कृतिक समृद्धि, तत्कालीन दुर्दशा और भविष्य-दृष्टि की विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने शिक्षा के प्रश्न को ही सर्वाधिक निर्णायक और केन्द्रीय प्रश्न माना है। उनका मानना है कि भारत में ब्रिटिश शासन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही कि भारतवासियों को पहुँचाए गए सबसे बड़े नुकसान को वरदान की दृष्टि से देखा जाने लगा।[10] सौ वर्षों से अधिक पहले का कुमारस्वामी का यह आंकलन आज भी शत-प्रतिशत खरा उतरता है। विश्व के समानधर्मा संस्थानों की प्रथम पंक्ति में आने की होड़ में लगे भारतीय विश्वविद्यालयों, तकनीकी संस्थानों, प्रबन्धन संस्थानों और नाना प्रकार की नई-नई उपाधियाँ देने वाले चमकते-दमकते संस्थानों से निकलने वाले युवकों-युवतियों का मानसिक धरातल आज भी यही बना हुआ है। जिस प्रकार से उनकी और उनसे छनकर उनसे नीचे के युवा-वर्ग की अभिरुचियाँ विरूपित हो रही हैं वह इस अवनति का और भी आक्रामक संकेत है। स्वजातीय अभिरुचियों का विघटन और ऊपर से बढ़ता अहंकार उनकी 'घर-वापसी' की संभावना को भी दिन-प्रतिदिन क्षीण करता जा रहा है।[11]

कुमारस्वामी ने परम्परागत भारतीय शिक्षा-प्रणाली द्वारा संरक्षित-पोषित-सम्वर्द्धित उन अनेक प्रवृत्तियों की गणना की है, जिनको ब्रिटिश शिक्षा-प्रणाली ने विरूपित कर दिया। इन प्रवृत्तियों में भारतीयों की जीवन व जगत के बारे में सहज दार्शनिक समझ, धार्मिक और लौकिक के मध्य अभेद की दृष्टि और पवित्रता का भाव, विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में अन्तर्भूत तात्त्विक एकता की स्वीकृति, आचरण के अनवरत परिष्कार का यत्न, आत्मिक नियन्त्रण की साधना, और गुरु-शिष्य-परम्परा की प्राण-प्रण से रक्षा का भाव जैसी प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हैं। अपनी विखण्डित दृष्टि के कारण ब्रिटिश शिक्षा-प्रणाली ने इन प्रवृत्तियों को गंभीर नुकसान पहुँचाया।[12]

ऐसी स्थिति में भी कुमारस्वामी का यह अडिग विश्वास है कि स्वयं भारतीय ही इस दुर्दशा से निबट सकने में समर्थ हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि वे अपनी सांस्कृतिक प्रतिबद्धताओं का विस्मरण न करें।[13] आधुनिकतावादियों के विपरीत कुमारस्वामी भारतीयों के चरित्र-निर्माण में पुराणों और महाकाव्यों की भूमिका को दृढ़ता के साथ रेखांकित करते हैं।[14] उनकी दृष्टि में *रामायण* और *महाभारत* जैसे महाकाव्य भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के वाङमयी विग्रह हैं। इसी क्रम में भारतीय शिक्षा-पद्धति में स्मृति के महत्व को भी रेखांकित करते हैं।[15] कुमारस्वामी बड़ी बेबाकी से भारत में स्त्री-शिक्षा के बदलते स्वरूप की भी समीक्षा करते हैं। स्त्रियों की शिक्षा के विषय में उनका मानना है कि इसका स्वरूप सीखने से अधिक संस्कारपरक था, जिसकी आवश्यकता एक सम्यक सामाजिक आदर्श को बनाए रखने के लिए थी।[16] कुमारस्वामी की शिक्षा-दृष्टि एक समग्र दृष्टि है। वे तत्त्वशास्त्र, धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति, संगीत, साहित्य, समाज-विधान, कृषि, कौशल, वाणिज्य-व्यापार, परिवार, राष्ट्रीयता, स्वदेशी आदि सभी विषयों का समावेश अपनी शिक्षा-दृष्टि में करते हैं। इसीलिए वे कालवशात् इन सभी विषयों में आए विपर्यय के परिष्कार के लिए भी शिक्षा को ही मूल आधार मानते हैं।[17]

यह ठीक है कि हमारे सामने एक 'राष्ट्रीय' शिक्षा-पद्धति और व्यवस्था को पुनर्निर्मित-पुनर्प्रतिष्ठित करने की चुनौती है, किन्तु इसकी पूर्वशर्त यह है कि इसके लिए हम कुमारस्वामी सदृश मनीषियों से संकेत प्राप्त कर सकने में सक्षम-सक्रिय हों।[18] अपने 'भारत-बोध' अथवा 'आत्म-बोध' के भाव से पुनर्तृप्त होने की भी यही अनिवार्य और स्थायी शर्त है। अपनी सांस्कृतिक विकास-यात्रा में भारत ने मानव संस्कृति को जीवन

का एक पुनर्नवा रूप उपलब्ध कराया। कुमारस्वामी मानते हैं कि भारतवर्ष में 'स्वतंत्रता' का आशय अपनी प्रकृति या स्वभाव के अनुसार आचरण करना है। अंग्रेजी शिक्षा और औपनिवेशिक प्रभाव में आकर भारतीय समाज, विशेषतः शिक्षित वर्ग ने अपना सहज स्वभाव ही खो दिया। अतएव यह आवश्यक है कि उसे पुनः तलाशा और खोजा जाय। शिक्षा के प्रश्न को लेकर कुमारस्वामी इतने गंभीर और संवेदनशील हैं कि प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के विजातीय स्वरूप पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि यह चिंतन का विषय है कि यह शिक्षा वाल्मीकि, तुलसीदास, कम्बन इत्यादि कवियों की तुलना में लोगों के हृदय में कितना स्थान बना पा रही है। भाषा, साहित्य, इतिहास के विस्तृत और वैश्विक फलक पर विचार करते हुए कुमारस्वामी के ये विचार आज भी किसी भारतीय विश्वविद्यालय के लिए मानक हो सकते हैं।[19]

कुमारस्वामी लैटिन और ग्रीक जैसी कई शास्त्रीय भाषाओं के आधिकारिक पण्डित थे। पश्चिम के विद्वान उनके पाण्डित्य के समक्ष अपने को प्रतिहत महसूस करते थे। वे मध्ययुगीन यूरोप की संस्कृति-सम्पन्नता के असाधारण व्याख्याता थे, मध्ययुगीन ईसाई सन्तों की साधना के मर्मवेत्ता थे और उस साधना में प्राचीन भारतीय चिन्तन की प्रतिच्छवि पाते थे। वे यह देखते थे कि तथाकथित पुनर्जागरणकाल से पश्चिम ने एक ऐसा मोड़ लिया, जो उसके विनाश का कारण बना, जिसकी परिणति दो विश्वयुद्धों में हुई, विमानवीकरण (Dehumanization) वाले औद्योगीकरण में हुई और उनकी मृत्यु के अनन्तर, मनुष्य के एक विशेष प्रकार के यन्त्रीकरण में हुई जिसकी उन्होंने शायद कल्पना तक नहीं की थी। अचरज यह होता है कि कुमारस्वामी ने इस सब 'विकास' को आज से सौ वर्ष पूर्व पढ़ लिया था, देख लिया था।[20]

भारत के सन्दर्भ में कुमारस्वामी की महत्ता इस बात में है कि वे केवल भारत की क्षमता ही नहीं देखते थे, वे भारत की दुर्दशा से भी अन्दर तक आहत थे। उन्होंने अपने निबन्ध *ईस्ट एण्ड वेस्ट* में स्पष्ट रूप से कहा कि भारत ही विश्व में सबसे करुण दृश्य दिखा सकता है। इतना जीवन्त और भव्य संगठन जो मध्य यूरोप के समान है, बल्कि उससे भी कुछ अधिक पूर्ण है, और इतने अपरिमेय कोष के उत्तराधिकार के बावजूद इतना दरिद्र और ऐसा विनाशोन्मुख- इससे अधिक करुण और क्या होगा।[21]

अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं कि हिन्दुस्तान की दरिद्रता इसमें नहीं है कि वह आर्थिक दृष्टि से विपन्न है, इसमें है कि वह जिसे विपन्नता मानता है वह उसकी बड़ी विपन्नता नहीं है; जिसको सम्पन्नता मानना चाहता है, जिसको अपनी सम्पन्नता का पैमाना मानता है, जिसके कारण वह दिखावटी प्रगति की लालसा का शिकार हो चुका है वही उसकी वास्तविक दरिद्रता है। और जो सम्पन्नता उसके पास है, जो आत्मविश्वास है, जो आत्मप्रत्यभिज्ञान उसके पास है, उसकी वह उपेक्षा कर रहा है। इतनी बड़ी वैचारिक अस्तित्व-समृद्धि के बावजूद, यह उपेक्षा ही उसकी वास्तविक दरिद्रता है और यही हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी ट्रेजेडी है, यही उसकी करुणान्त गाथा है।

* * * * *

पवित्र और सांसारिक के मध्य भेद करने की आधुनिक प्रणाली के दुष्प्रभाव को भी कुमारस्वामी अभिव्यक्त करते हैं। कुमारस्वामी स्पष्ट करते हैं कि यदि आज के आधुनिक दर्शन को अलग रख दें, तो पूर्व और पश्चिम अथवा उत्तर और दक्षिण की संस्कृतियों में, उनकी दार्शनिक मान्यताओं में केवल भाषागत अन्तर ही शेष रह जाएगा। सभी एक जैसे विचारों को, एक जैसी आध्यात्मिक भाषा में और एक जैसे मुहावरों की सहायता से, प्रस्तुत करते हैं; भले ही उनके शब्द अलग-अलग हों। कुमारस्वामी विभिन्न सभ्यताओं के

अधारभूत विचारों की शाब्दिक और दृश्यमान अभिव्यक्तियों में पाई जाने वाली इस मूल एकता में ही निवर्तमान वैश्विक व्यवस्था और आचरण से जुड़ी समस्याओं के निराकरण की सम्भावना देखते हैं। किन्तु, इस सम्भावना के फलीभूत होने के लिए यह आवश्यक है कि पूर्व और पश्चिम आधुनिक विज्ञानवाद, प्रत्यक्षवाद और व्यक्तिवाद से ऊपर उठकर इस आध्यात्मिक सूत्रबद्धता को पहचानें।

आधुनिक पश्चिमी सभ्यता द्वारा की गयी अनियंत्रित बर्बरता के प्रति सन् 1761 में विलियम लॉ द्वारा उठाए गए प्रश्नों को उद्धृत करते हुए कुमारस्वामी इस सभ्यता की आधारभूत स्थापनाओं के प्रति अपनी भी गंभीर असहमति प्रकट करते हैं। *भगवद्गीता,* प्लेटो और *बाइबिल* के विचारों को उद्धृत करते हुए कुमारस्वामी असीमित लाभ के सिद्धान्त पर आधारित आधुनिक और विश्वव्यापी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के स्थान पर स्वधर्म और कर्म की साधना तथा निपुणता पर आधारित जीवन-प्रणाली की आवश्यकता पर बल देते हैं। स्वधर्म और कर्म की साधना को मनुष्य की गरिमा से जोड़ते हुए कुमारस्वामी मशीनीकरण के प्रश्न पर भी अपनी स्पष्ट राय व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि जहाँ उत्पादन का सम्बन्ध उत्पादनकर्ता या निर्माता के आन्तरिक स्वधर्म का प्रश्न नहीं रह जाता, वहीं से मानवीय गरिमा का हनन करने वाले नियंत्रण और शोषण का आरम्भ होता है। पारम्परिक औजारों की अपेक्षा आधुनिक मशीनों को वे इस नियंत्रण और शोषण को बढ़ाने वाला मानते हैं। जहाँ एक ओर, प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव तथा उसकी गरिमा के अनुरूप उसके स्वधर्म-मूलक व्यवसाय की महत्ता-प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए वे भारतवर्ष की पारम्परिक जाति-व्यवस्था का भी उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि पूंजीवादी-औद्योगिक व्यवस्था में स्वधर्म-आधारित व्यवसाय की गरिमा, जो उत्पादक और उपभोक्ता- दोनों के हितों से सम्बन्धित है, को सुरक्षित रखा ही नहीं जा सकता; वहीं दूसरी ओर, आधुनिक मशीनों और पारम्परिक औजारों के माध्यम से किए जाने वाले उत्पादन की गुणवत्ता के सम्बन्ध में भी वे अपना स्पष्ट मत प्रकट करते हैं। इस प्रकार, पुनर्जागरण-कालीन अधिसंख्य 'समाज-सुधारकों' के विपरीत कुमारस्वामी पारम्परिक भारतीय जाति-व्यवस्था को भी बहुलता के भारतीय सन्दर्श के रूप में देखते हैं।

पूर्व और आधुनिक पश्चिम की आन्तरिक गत्यात्मकता पर प्रकाश डालते हुए कुमारस्वामी कहते हैं कि किसी उच्चस्तरीय सन्दर्भ पर समझ और सहमति के अभाव में आधुनिक पश्चिम चाहे कितनी भी 'तरक्की' कर ले, वह एक खाओ, पियो और मौज करो वाली सभ्यता से बढ़कर कुछ नहीं है। प्रकृति के अनियन्त्रित शोषण, बढ़ती आवश्यकताओं और 'विकास' की आधुनिक दौड़ को वे पूरी सभ्यता के लिए विनाशकारी मानते हैं। वे इस बात पर चिन्ता प्रकट करते हुए यह स्पष्ट भी करते हैं कि पूर्वी सभ्यताओं में भी पश्चिम के अनुकरण के फलस्वरूप इस प्रकार की आत्मघाती व्यवस्थाओं की नींव पड़ चुकी है। पश्चिम और पूर्व की ये व्यवस्थाएँ आपस में प्रतियोगिता कर सकती हैं, किन्तु सहयोग नहीं। सहयोग के सूत्र तो हमें किन्हीं और माध्यमों से तलाशने होंगे। गांधी को उद्धृत करते हुए वे एक ऐसे बौद्धिक पुनर्जीवन की कामना करते हैं, जिसमें सम्यक अर्थों में विचारकों, चिन्तकों और विद्वानों की भूमिका होगी। ये ऐसे विचारक, चिन्तक और विद्वान होंगे जिनमें पारम्परिक भाषा और साहित्य, धर्म और दर्शन तथा संस्कृति और सभ्यता के समवेत और जीवन्त सूत्र जाग्रत अवस्था में विद्यमान होंगे।

अपनी विचार-शैली के अनुरूप कुमारस्वामी भारतीय समाज-व्यवस्था के विभिन्न पक्षों की आधार-भित्ति को अन्य परम्पराओं में विद्यमान समरूप विचार-दृष्टियों के समानान्तर समझाने की चेष्टा करते हैं। आरम्भ में ही वे भारत जैसी किसी पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था के मर्म को सूत्रवत् उद्घाटित कर देते हैं। संस्थाओं के मूल स्वरूप की रक्षा की आवश्यकता को वे सोदाहरण समझाते हैं। वे कहते हैं कि किसी राजा के विपथगामी हो जाने पर राजतंत्र के स्थान पर लोकतंत्र की स्थापना कर देना समस्या का समाधान नहीं है।

कुमारस्वामी उद्घाटित करते हैं कि प्रत्येक स्थापित रीति के पीछे एक आध्यात्मिक, न कि जीव-वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक, कारण विद्यमान रहता है। विवाह की पद्धति का दृष्टांत देते हुए वे कहते हैं कि विवाह की पूरी पद्धति सूर्य और आकाश अथवा आकाश और पृथ्वी के स्वाभाविक सम्बंध पर आधारित है, जो वास्तव में आध्यात्मिक सत्ता (Spiritual Authority) और लौकिक शक्ति (Temporal Power) के सम्मिलन का द्योतक है। इसीलिए वे परम्परागत व्यवस्थाओं में व्याप्त सर्वांगपूर्णता, मौलिकता और संवेदनशीलता के प्रति आग्रही हैं। वे कहते हैं कि परम्परागत समाजों की रचना संगीत की तरह है, जिसका कलेवर बदलने मात्र से पूरी संरचना अपने मूल स्वरूप को खो देती है। यही कारण है कि वे अपने स्वधर्म का त्याग करने वालों अथवा दूसरों को इसके लिए प्रेरित करने वालों की तथाकथित 'सदिच्छा' के खतरे को भी उद्घाटित करते हैं।[22]

* * * * *

आज-कल बौद्धधर्म को सनातन धर्म के लगभग विरूद्ध एक 'प्रगतिशील' धर्म की तरह प्रस्तुत किया जाता है। सनातन धर्म और बौद्ध धर्म की न केवल दार्शनिक मान्यताओं, वरन् सामाजिक सन्दर्भों में भी एक अन्तर्भूत एकता विद्यमान है। दृष्टि, साधना और व्यवस्था के स्तर पर व्याप्त इस अन्तरंग एकता के सूत्र को कुमारस्वामी ने भली-भाँति पहचाना है। सुधीजनों को इसके विस्तृत अध्ययन के लिए उनकी कृति *हिन्दूइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म* का अवलोकन करना चाहिए। दुर्भाग्य से बौद्धधर्म ही आड़ लेकर 'वंचितों, दलितों और हाशिए की शक्तियों' की ओर से सनातन धर्म की मूलभूत मान्यताओं पर प्रहार करना तर्कशीलता, विवेकशीलता, वैज्ञानिकता, मानवीयता और प्रगतिशीलता का प्रमाण माना जाने लगा है। कुमारस्वामी ने सनातन धर्म और बौद्धधर्म की तात्त्विक एकता को प्रदर्शित करते हुए भी बहुलता की भारतीय मान्यता को ही उद्घाटित किया है।

कुमारस्वामी परम्परागत संस्थाओं को मनुष्य के जीवन के परम लक्ष्य तथा परम पुरुषार्थ से जोड़कर देखते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति (action and contemplation) के सह-धर्म पर आधारित पुरुषार्थ-चतुष्ट्य के सिद्धान्त और इसमें निहित चारों पुरुषार्थों को सोपानवत् अन्तर्निर्भरता के सिद्धांत का वे विस्तार से वर्णन करते हैं। भारतीय जीवन-विधान में जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही जीवन-मुक्त होने की अप्रतिम सम्भावना को वे रेखांकित करते हैं।

कुमारस्वामी मानते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों के साहचर्य पर आधारित जीवन के ये "ordinary" और "extraordinary" मानक सभी संस्कृतियों में देखे जा सकते हैं। वो तो केवल आधुनिक दृष्टि है, जिसमें विशेष रूप से इस "extraordinary" पक्ष का तिरस्कार दिखाई देता है। परम्परागत व्यवस्था में एक सर्वांगपूर्ण जीवन-विधान की चर्चा करते हुए कुमारस्वामी ऋण के सिद्धान्त और आश्रम की महत्ता का भी उल्लेख करते हैं। आश्रम जीवन के प्रवाह में एक अन्तर्भूत पड़ाव और अपेक्षित पूर्णता का द्योतक है।

भारतीय समाज-व्यवस्था के आधारों का उल्लेख करने के क्रम में कुमारस्वामी अपनी विशिष्ट निरुक्तवादी शैली में ''धर्म'' शब्द की मीमांसा प्रस्तुत करते हुए ग्रीक और लैटिन भाषाओं में इसका निकटतम समानार्थी शब्द खोजते हैं। संस्कृत भाषा में 'धृ' धातु से व्युत्पन्न "धर्म" के अर्थ को वे 'Justice', 'Righteousness', 'Order' और Truth से अभिव्यञ्जित अर्थों के समीप पाते हैं। "धर्म" का अर्थ निश्चित करते हुए वे वैदिक वाङ्मय से गांधी तक की यात्रा पूरी कर डालते हैं। कुमारस्वामी की यह विलक्षण विशेषता है कि किसी भी 'First Principle' की गवेषणा करने के क्रम में वे दो कार्य एक साथ करते हैं : एक तो उस सिद्धान्त की व्याप्ति को वे विभिन्न परम्पराओं और संस्कृतियों में दिखाने दी प्रामाणिक कोशिश करते हैं, और सन्दर्भ की इस अति-व्याप्ति के बीच वे विवेच्य सिद्धान्त का अन्तर्भूत अभिप्राय बिलकुल स्पष्ट कर देते हैं। इस प्रकार उनकी शैली में न तो संकीर्णता के लिए कोई स्थान है, और न ही अस्पष्टता अथवा अप्रामाणिकता के लिए ही।

किन्तु सामान्य-जन की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की तात्त्विक आधारभूमि को भी वे स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि समाज की आधारभूत व्यवस्था विवाह, और राज्य-संचालन की विद्या राजनीति - दोनों के तात्त्विक आधारों में समानता है। इस तथ्य को भारतीय, चीनी और यूनानी - तीनों दर्शनों के माध्यम से वे स्पष्ट करते हैं।

ब्रह्म और ब्रह्मविद् तथा संसार और सांसारिक के मध्य विद्यमान इन स्थितियों और सम्भावनाओं की उपस्थिति को कुमारस्वामी बौद्धधर्म के अन्तर्गत भी रेखांकित करते हैं। अपनी विशिष्ट शैली के अनुरूप अत्यन्त ही प्रामाणिक तरीके से विधि और धर्म की मान्यता तथा इसके बीच से संन्यास की सम्भावना को वे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, जिससे सनातनधर्म और बौद्धधर्म की मूलभूत मान्यताओं की तात्त्विक एकता प्रमाणित होती है। *संयुत्त निकाय* और *दिघ निकाय* में वर्णित धम्म, धम्म-ज, धम्म-काय, बह्मकाय तथा ब्रह्मभूत जैसी अवधारणाओं की सहायता से कुमारस्वामी इस तात्त्विक एकता को उद्घाटित करते हैं। कुमारस्वामी बौद्धधर्म को सनातन हिन्दू धर्म से तात्त्विक आधार पर नहीं, वरन् साधनागत आधार पर एक भिन्न व्यवस्था मानते हैं। बुद्ध संसार के ''मलीन मार्ग'' ("dusty path") का त्याग करते हुए अपने अनुयायियों से साधना-मार्ग का अनुसरण करने का आवाह्न करते हैं। सामान्यतः, इसी मार्ग का अनुसरण एक हिन्दू संन्यासी के लिए भी विधेय है; किन्तु विशेष परिस्थितियों में, पूर्व जन्मों की प्रेरणाओं से मनुष्य को जीवन की किसी भी अवस्था या आश्रम में तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो सकता है और ऐसी दशा में उसे संन्यास अनुमोदित है।

धर्म की सनातन और बौद्ध अवधारणाओं में तात्त्विक संगति स्थापित करने के उपरान्त कुमारस्वामी गीतोक्त परमधर्म और स्वधर्म (अथवा सह-ज धर्म) के आन्तरिक सम्बन्ध पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं। अपने स्वधर्म के प्रति, उसके अनुरूप सुनिश्चित कर्म के प्रति अनन्य निष्ठा के विषय को वे भारतीय जीवन-विधान में सर्वाधिक महत्व के साथ रेखांकित करते हैं। वे एक साथ कई प्रकार से हमारी दृष्टि का परिमार्जन करते चलते हैं।

इसी प्रकार, कुमारस्वामी मानते हैं कि भारतीय परम्परागत समाज की जाति-व्यवस्था किसी भी प्रकार से आधुनिक पश्चिमी समाजों में प्रचलित वर्ग (class) तथा नस्लीय पूर्वाग्रह की अवधारणाओं के समतुल्य नहीं है।

वे इस बात पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि भारतवर्ष के निवर्तमान शासकों में नस्लीय भेदभाव के प्रति तो कोई आग्रह नहीं है, और यथासंभव वे जाति-व्यवस्था की भी उपेक्षा ही करते हैं, किन्तु वहाँ वर्ग-विभेद की धारणा तेजी से उभरी है। वे इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि सेवा-क्षेत्र (service sector) में एक ही प्रकृति के कार्य को सम्पादित करने के लिए अलग-अलग व्यक्ति अपने 'ग्रेड' के अनुरूप अलग-अलग वेतन प्राप्त करते हुए व्यापक सामाजिक अलगाव (social exclusiveness) को पैदा करने वाले वर्ग-भेद को उत्पन्न कर रहे हैं। इसी प्रकार, वे इंगित करते हैं कि एक ही प्रकार की सेवा में ब्राह्मणों के विरुद्ध 'कोटा' की प्रणाली तय करके एक बड़े वर्ग-संघर्ष को विकसित किया जा रहा है। ब्राह्मणों के विरुद्ध 'कोटा' की इस प्रणाली की तुलना वे अमेरिका में यहूदियों के विरुद्ध निर्धारित 'कोटे' की प्रणाली से करते हैं, जहाँ पर इस भय से 'कोटा' निश्चित किया गया कि कहीं अपनी श्रेष्ठ बौद्धिक प्रतिभा के कारण ये सभी सेवाओं के अवसरों को 'हड़प' न लें।

कुमारस्वामी भारतीय समाज-व्यवस्था में कर्म की अनुवांशिक परम्परा का उल्लेख करते हुए स्वधर्म की महत्ता का पुनः प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि अपने कर्म के प्रति स्वधर्म की यह दृष्टि जैसे-जैसे धुँधली होती गई, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मशीनों का बोल-बाला हो गया, एक साधनारत कलाकार श्रमिक बन गया और उसका लक्ष्य अब केवल यांत्रिक तरीके से कम से कम समय में अधिक से अधिक वस्तुओं का उत्पादन रह गया। विलियम ब्लैक के शब्दों को उद्धृत करते हुए कुमारस्वामी ने लिखा है-

When nations grow old, the arts grow cold, and commerce settles on every tree.

इस आधुनिक उद्योगवादी सभ्यता ने 'जीवन-स्तर के उन्नयन' जैसे एक अनवरत चलने वाले अभियान के तहत ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया जिसकी इच्छाएँ सदा अतृप्त ही बनी रहती हैं। इसके विपरीत स्वधर्म-आधारित कार्य-कुशलता की भावना यूरोपीय मध्यकाल से लेकर समग्र भारतीय परम्परा को आच्छादित किए रही। कुमारस्वामी इस सन्दर्भ में सनातन भारतीय परम्परा में व्याप्त यज्ञोद्भूत सृष्टि-कर्म तथा विश्वकर्मा की अवधारणाओं की विशद व्याख्या करते हैं। व्याख्याओं के दौरान वे *भगवद्गीता* सहित अन्यान्य शास्त्रों में उपलब्ध मूल-प्रकृति और हिरण्यगर्भ जैसे सिद्धान्तों का भी उल्लेख करते हैं।

जाति की अवधारणा की तत्त्व-सम्मत समीक्षा करने के उपरान्त कुमारस्वामी समानता (equality) और स्वतन्त्रता (liberty) जैसी मान्यताओं की भी समीक्षा करते हैं। समानता की आधुनिक मान्यता को वे अंकगणितीय (arithmetical) मानते हैं, जो, उनके अनुसार, समानता की परम्परा-प्रदत्त समानुपातिक (proportionate or analogical) मान्यता के बिलकुल विपरीत है। गणितीय समानता की संभावना को कुमारस्वामी केवल समान प्रकृति के जातीय समुदायों के अन्दर सम्भव मानते हैं, और इस दृष्टि से वे भारतवर्ष में पंचायतों की परम्परागत व्यवस्था को संसार की सर्वश्रेष्ठ 'जनतान्त्रिक' व्यवस्था मानते हैं। इसी क्रम में वे जातीय सोपानक्रम और स्वतन्त्रता के अन्तर्सम्बन्ध की भी चर्चा करते चलते हैं। वे उदाहरणों के माध्यम से प्रदर्शित करते हैं कि जाति-सोपानक्रम (caste-hierarchy) में जिसे जितना ऊपर रखा गया है, उसकी (आचरण-सम्बन्धी) स्वतन्त्रता उतनी ही सीमित है, और अनुमोदित आचरण का उल्लंघन करने का दण्ड उतना ही कठोर।

जाति-व्यवस्था की विशद तात्त्विक व्याख्या करने के उपरान्त एक बार पुनः कुमारस्वामी 'धर्म' और 'स्वधर्म' के प्रश्न पर आते हैं। इस बार वे इस प्रकरण का निस्तारण करने के लिए संत थॉमस एक्वीनास के विधि सम्बन्धी सिद्धान्त का भी उल्लेख करते हैं। 'धर्म' और 'स्वधर्म' की अवधारणा के स्पष्टीकरण के उपरान्त कुमारस्वामी 'कर्म' और 'स्वकर्म' के अन्तर्सम्बन्ध के माध्यम से लौकिक और अलौकिक, जड़ और चेतन, कालिक और सर्वकालिक तथा शरीर और आत्मा के बीच भेद को अभेद में परिवर्तित होते हुए देखते हैं। यज्ञ के कुमारस्वामी कर्म का विहित स्रोत और सन्दर्भ मानते हैं। कर्म के इस स्वरूप को आदिम संस्कृतियों से लेकर प्लेटो के आदर्श राज्य सहित सभी परम्परागत संस्कृतियों में देखा जा सकता है। इन दोनों - परम्परागत और आधुनिक-व्यवस्थाओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण पर ही हमारी सभ्यता का भविष्य निर्भर है। परस्पर विरोधी इन व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में हमारी स्वीकृति या अस्वीकृति के भाव पर ही पूर्व और पश्चिम के मध्य किसी सहमति या सहयोग की संभावना निर्भर है।[23]

* * * * *

आर्ट एण्ड स्वदेशी पुस्तक में आनन्द कुमारस्वामी द्वारा 1910-11 के आसपास विभिन्न अवसरों पर दिए और लिखे गए तेरह व्याख्यानों और लेखों का संग्रह है। इन व्याख्यानों/लेखों के माध्यम से कुमारस्वामी भारतीय कला के विभिन्न पक्षों की सारभूत समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। उनकी समीक्षा के केन्द्र में भारत की राष्ट्रीय निर्मिति में कला और कला-दृष्टि की महत्ता का अन्वेषण तो है ही, कला के अनुशीलन के माध्यम से वे भारतीय जीवन-विधान में व्याप्त संसारिक और आध्यात्मिक तत्त्वों की सांगोपांग तारतम्यता को भी रेखांकित करते हैं। एक प्रकार से वे कला के माध्यम से भारतीय चिति की गवेषणा करते हुए भारत के राष्ट्रीय स्वाभिमान को पुनर्जागृत करने का दुर्लभ यत्न साधते हैं। भारतीय कला-दृष्टि 'भारत-बोध' का ही लोक-विग्रह है। राष्ट्रीयता को परस्पर विरोधी नारों की श्रृंखला में आबद्ध कर देने वाली वर्तमान पीढ़ी के लिए आनन्द कुमारस्वामी के ये विचार 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जैसे सिद्ध हो सकते हैं। कुमारस्वामी आगाह करते हैं कि ऐसी राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है, जहाँ हमारी चिति को सुनिश्चित और हमारी आत्मा को स्पर्श करने वाले तत्त्व विजातीय प्रभाव से ही ग्रसित हों।

इस क्रम में वे उन यूरोपीय कलाधर्मियों का भी स्मरण कराते हैं जिनका मानना है कि यूरोप में भी कला के क्षेत्र में किसी स्वस्थ स्फूर्ति के आगमन की सम्भावना पूर्व की ओर से ही है। वे यह भी स्मरण कराते हैं कि विश्व में भारतीय संस्कृति के प्रभाव का युग भारतीय कला के भी उत्कर्ष का युग रहा है, क्योंकि बिना कला के उत्कर्ष और उसके प्रति पर्याप्त संवेदनशीलत के किसी भी राष्ट्र में उस नैतिक बल का अधिष्ठान हो ही नहीं सकता जिसके सहारे कोई राष्ट्र विश्व में अपना सांस्कृतिक प्रभाव स्थापित कर सके। अपने कथन के प्रमाणस्वरूप वे भारतीयों के घरों में प्रयोग होने वाले बर्तनों, उनकी साज-सज्जा में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं, भारतीयों के परिधान-विन्यास और हारमोनियम तथा ग्रामोफोन जैसे उपकरणों का उनकी संगीत-विरासत में अतिक्रमण जैसी वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करते हैं।

कुमारस्वामी कला-दृष्टि का चिति-सम्मत जीवन-दृष्टि के साथ इतना अन्तरंग सम्बन्ध मानते हैं कि वे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए अपनी कला के पुनरुत्थान को एक अनिवार्य पूर्वावस्था मानते हैं। कुमारस्वामी कहते हैं कि जीवन में कला और सौन्दर्य की उपेक्षा का सीधा सा अर्थ है कि हमें अपने राष्ट्र से कोई प्रेम

नहीं है, और जब तक हम अपनी कला-सम्पदा को भूलने की कीमत पर आधुनिक विज्ञान को सीखने का उद्यम साधते रहेंगे, तब तक हमें अपनी वास्तविक स्वाधीनता की कल्पना नहीं करनी चाहिए। अपनी कला को पुनर्जीवित करते ही हमारी संगठनात्मक चेतना जागृत हो उठेगी और हमें अपने खोए हुए वैभव को प्राप्त करने के लिए सरकार अथवा किसी अन्य का मुखापेक्षी नहीं होना पड़ेगा। वे कहते हैं कि 'ideal is (as always) the practical par excellence, और इसीलिए अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा अपनी कला-दृष्टि के विस्मरण के कारण हमें अपने भारतीय उद्योगों को गँवाना पड़ा है, और दोहरे नुकसान के रूप में पश्चिमी वस्तुओं का आयात करना पड़ा है। इन प्रवृत्तियों ने देशज उपकरण बनाने वाले लाखों उद्यमियों को उनकी कला-साधना, उनकी आजीविका और उनके श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों से विरत कर दिया है तथा वे कृषि पर अतिरिक्त बोझ बनने या इंग्लैण्ड द्वारा निर्मित कारखानों के अमानवीय जीवन को जीने के लिए बाध्य हुए हैं। उनका यह स्पष्ट मानना है कि अपनी कला-दृष्टि के प्रति विश्वास को पुनर्सृजित करके ही हम वे परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकते हैं जो हमें एक स्थायी और स्वाभाविक कोटि की स्वाधीनता का बोध करा सकती हैं। चूँकि कुमारस्वामी कला को समूची जीवन-दृष्टि की लौकिक अभिव्यक्ति मानते हैं, इसलिए वे स्वदेशी कला में ही स्वदेशी राष्ट्र की परिकल्पना को साकार होते देखते हैं।

कुमारस्वामी ने घरेलू हस्तशिल्प के स्वरूप और संस्कृति के अर्थ का विवेचन तो किया ही है, इन दोनों के अन्तर्सम्बन्धों पर आधारित सभ्यता के रंग-ढंग का भी खुलासा किया है। घरेलू हस्तशिल्प को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि किसी समय सभी हस्तशिल्प घरेलू प्रकृति के ही थे, किन्तु आज उनमें से एक भी इस प्रकार का नहीं रहा। जब तक कताई, बुनाई या आभूषण-निर्माण जैसे हस्तशिल्प घर अथवा घर से लगे छोटे कारखानों की सीमा में आबद्ध रहे तब तक संस्कृति के साथ उनका सम्बन्ध घनिष्ठ रूप से बना रहा। संस्कृति को परिभाषित करते हुए कुमारस्वामी प्लेटो को उद्धृत करते हैं, जो कहता है कि संस्कृति का सम्बन्ध अच्छी और बुरी कार्य-कुशलता के मध्य तत्क्षण और आत्यंतिक रूप से भेद कर सकने की क्षमता से है और, इस दृष्टि से कुमारस्वामी वर्तमान युग को सबसे कम सुसंस्कृत मानते हैं। कुमारस्वामी प्लेटो की परिभाषा को विस्तार देते हुए संस्कृति का सम्बन्ध मन और शरीर की तन्मयता पर आधारित एक ऐसी संतुलित जीवन-दृष्टि से मानते हैं जो यथार्थ और मिथ्या जीवन-मूल्यों के प्रति पूरी तरह सतर्क है। हस्तशिल्प और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्ध के बारे में कुमारस्वामी दृष्टांत पर दृष्टांत देते चले जाते हैं और कहते हैं कि मशीनीकृत औद्योगीकरण ने हस्तशिल्प को घरेलू वातावरण से दूर करके कारीगरों और कलाकारों के सांस्कृतिक अधिष्ठान का ही हरण कर लिया है तथा वे निम्नस्तरीय वस्तुओं का जीवन में प्रयोग करने के लिए बाध्य हो गए हैं।

कालीन-निर्माण की प्रक्रिया में परम्परागत करघे तथा मशीनी करघे के प्रयोग के उदाहरण के माध्यम से कुमारस्वामी स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार मशीनी करघा एक बुनकर को एक मशीन-चालक में बदल देता है और उसकी कलात्मक कल्पनाशीलता और सृजनशीलता को लगभग अपहृत कर लेता है। कुमारस्वामी कहते हैं कि एक कलात्मक परिवेश की स्वतःस्फूर्त संवेदनशीलता एक मशीनी परिवेश में उत्पन्न ही नहीं हो सकती और इस संवेदनशीलता की क्षति या अभाव ही संस्कृति की क्षति या अभाव है। संस्कृति की इस क्षति को कुमारस्वामी एक दुश्चक्र मानते हैं, जिसे वे संगीत में ग्रामोफोन के प्रयोग के उदाहरण द्वारा पुष्ट करते हैं।

कुमारस्वामी बार-बार यह स्पष्ट करते हैं कि समस्या यह नहीं है कि मशीनरी को कैसे समाप्त किया जाए, बल्कि यह है कि कैसे मानवीय व मशीनी कार्य को अपनी-अपनी सीमा में परिसीमित किया जाए, जिससे मशीनरी मनुष्य को अपना गुलाम न बना सके। यह परिसीमन इसलिए आवश्यक है कि क्योंकि मनुष्य के सांस्कृतिक अस्तित्व की रक्षा के लिए उसकी बौद्धिकता और सृजनशीलता तथा उसके शैक्षिक और नैतिक आयामों की स्वायत्तता को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना ही पड़ेगा।

कला-साधना को मनुष्य की सुदीर्घ, परम्परागत और आनुवांशिक साधना मानने वाले कुमारस्वामी आधुनिक विज्ञान की तथाकथित उपलब्धियों को मानवता के इतिहास में पतन के चिह्न मानते हैं। एच.एच. कोल और डॉ. रायले को उद्धृत करते हुए कुमारस्वामी कहते हैं कि प्रत्येक प्रकार के शिल्प-निर्माण तथा उनके रंग-रोगन की तकनीक और सौन्दर्य के मामले में भारत, पर्सिया, चीन, जापान, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया और असंख्य समीपस्थ द्वीप-समूहों की तुलना में यूरोप कहीं भी खड़ा नहीं है। कुमारस्वामी कहते हैं कि एक तो तत्कालीन राजसत्ता ने भारतीय कला के जीवन्त स्वरूप की रक्षा करने का कोई यत्न नहीं किया और दूसरे, यूरोपीय कला-समीक्षक भारतीय कला-दृष्टि की अनधिकारिक आलोचना भी करते हैं। कुमारस्वामी का मानना है कि राज्य-पोषण के अभाव और 'शिक्षित' भारतीयों की कुरुचियों के कारण यह वातावरण निर्मित हुआ है।

कुमारस्वामी भारत की पराधीनता को भी भारत में कला-शिल्प की अवनति के कारणों में सम्मिलित करते हैं। वे भारत में कला के पुनरुत्थान की संभावना भी देखते हैं और कहते हैं कि भारत में कला यूनानी और पुनर्जागरण कालीन यूरोप की कला की भाँति मृत नहीं हुयी है। अंग्रेजी चाल-ढाल का अनुसरण करने वाले बम्बई जैसे स्पन्दनहीन और बाजारू नगरों के लोगों को ही यह मृत-प्राय जान पड़ती है। जबकि वास्तव में भारतीय कला अपने दुर्दिन को भोग रही है, और एक सच्ची राष्ट्रीयता तथा स्वदेशी को भावना का अनुसरण करके इसे इसकी पुरानी और श्रेष्ठ पहचान फिर से दिलाई जा सकती है। किन्तु वे यह भी कहते हैं कि केवल बहिष्कार और यूरोपीय वस्तुओं की देश में नकल करना सम्यक् अर्थों में स्वदेशी नहीं है।

कला को देखने की कुमारस्वामी की दृष्टि अत्यन्त विहंगम है। वे कला का सम्बन्ध देशज प्रकृति से, प्रकृति का सम्बन्ध संवेदनशीलता से और संवेदनशीलता का सम्बन्ध राष्ट्रीय चरित्र से मानते हैं। इसीलिए यूरोप के आधिपत्य के अधीन रहकर और कला-सर्जना को यूरोपीय अनुकृतियों तक सीमित रखकर वे किसी राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की संभावना नहीं देखते। इन सारे यक्ष-प्रश्नों के मूल में वे भारत में अंग्रेजों के द्वारा दी जा रही उस शिक्षा को मानते हैं जो भारत को 'असभ्य' मानकर उसे 'सभ्य' बनाने के लिए दी जा रही थी। कुमारस्वामी तत्कालीन भारत को कला की दृष्टि से लन्दन और पेरिस तथा औद्योगिक दृष्टि से मैनचेस्टर और बर्मिंघम का कस्बाई संस्करण मानते हैं। धार्मिक परिवेश को कुमारस्वामी भारतीय कला का केन्द्रीय वातावरण मानते हैं, और कहते हैं कि इस वातावरण को आत्मसात किए बिना भारतीय कला के मर्म को समझा नहीं जा सकता। किसी कलाकृति की मुख्य सामर्थ्य उसमें अन्तर्भूत भावना को अभिव्यक्त करने में है। किसी देवस्थान में धूल-धूसरित पाँवों से देवदर्शन को आकुल किसी तीर्थयात्री को यही अन्तर्भूत भावना वशीभूत किए रहती है।

* * * * *

कुमारस्वामी का कला-चिन्तन जीवन और पुरुषार्थ विषयक उनकी मौलिक चिन्ता का ही प्रतिफल है। कला-सृजन को वे मानव-समाज की एक बुनियादी जरूरत के रूप में देखते हैं। भारतीय जीवन में कला की वह वैसी ही जीवन्त भूमिका अब भी देखना चाहते हैं, जैसी वह हमेशा अभी हाल तक रही थी। 'कला कला के लिए' जैसी मान्यताओं का उन्होंने अपने लेखों में मात्र खण्डन ही नहीं किया है, बल्कि कला ('शिल्पकर्माणि') को उन्होंने मूलतः उपयोगी वस्तु माना है, और उपयोगिता तथा कलात्मकता के द्वैत को अन्तर्विघटित समाज का, सच्ची सृजनात्मकता से भ्रष्ट हो चुके समाज का लक्षण माना है। उन्होंने प्रारम्भ में ही प्राचीन भारत में स्वयंसिद्ध रूप से स्वीकृत इस तथ्य को रेखांकित कर दिया है कि एक सच्चे शिल्पकर्म में शिल्पी के दृष्टिकोण से जो आन्तरिक कलात्मक सौष्ठव निहित होगा, वही उस शिल्प के उपभोक्ता की दृष्टि में उसका उपयोग-मूल्य अर्थात् 'योग्यता' या 'पुण्यता' होगी। *कौशीतकी उपनिषद्* के इस सूत्र-वाक्य को उद्धृत करते हुए कि 'सारी अभिव्यक्तियाँ, चाहे वे मनुष्यकृत हों, चाहे अतिमानुषी-श्रुतिमूलक, सब एक ही साध्य से निर्दिष्ट होती हैं, और वह साध्य, वह अलक्ष्य प्रयोजन वैसी प्रत्येक अभिव्यक्ति से बड़ा और उसके परे होता है'; उनका विचार है कि कलाकृति की प्रेरणा और प्रयोजन इसी परम प्रयोजन के मेल में हो सकता है। *वृहदारण्यक उपनिषद्* के अनुसार भी 'जैसा उद्देश्य होगा वैसा ही कर्म होगा; दूसरे शब्दों में साध्य के अनुसार ही साधना होगी' (यत्क्रतुः तत्कर्म)।

आज की स्थिति पर विचार करते हुए कुमारस्वामी का कहना है कि हमारी यह वर्तमान दरिद्रता विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व है। इसका मतलब यह नहीं है कि हमारा पुरुषार्थ चूक गया है, बल्कि यह है कि पुरुषत्व का कोई एक विशिष्ट पहलू ही हम खो चुके हैं। भारतीय परिस्थिति पर उनकी टिप्पणी यह है कि 'हमारा तथाकथित पुनर्जागरण सिर्फ प्राचीन शैलियों का अनुकरण है, प्राचीन अर्थों का अपने लिए पुनराविष्कार नहीं। हालत यहाँ तक पहुँच चुकी है कि हमारी अपनी जातीय प्रतिभा स्वयं हमारे लिए सिर्फ नृतत्वशास्त्रीय और ऐतिहासिक शोध में इस्तेमाल हो सकने वाला कच्चा माल बन कर रह गयी है।' इससे अधिक विचलित करने वाली टिप्पणी और क्या होगी! पर क्या यह एक कड़वी सच्चाई नहीं है?

'कला के क्षेत्र में व्याप्त यह ह्रास और विघटन' कुमारस्वामी के शब्दों में 'हमारे जीवन की अँधेरी दुर्व्यवस्था को ही प्रकट करता है। क्या इस तिमिराच्छन्न जड़ता के बीच जीवन का कोई चिह्न, पुनःसंघटन का कोई संकेत है? एक भी कोई ऐसी कला है जो हमारी सम्पूर्ण मनुष्यता, सम्पूर्ण भारतीयता को प्रकट कर सके?' प्रश्न भी कुमारस्वामी का है और उत्तर भी उन्हीं का है कि हाँ, श्रुति और परम्परा के प्रतिमानों के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देने को कहा जाये तो मैं कहूंगा- 'हाँ; चरखे से काते जाने वाले खद्दर में मैं उस संभावना के दर्शन करता हूँ। प्रागैतिहासिक प्राचीनता वाली यह कला ही सच्चे अर्थों में आज हमारे लिए एक सचमुच नया, सचमुच का अनुभव है। यही वह एकमात्र कला है जो हमारे श्रुति और स्मृति-परम्परागत प्रतिमानों के साक्ष्य पर सही उतरती है, क्योंकि यह हमारे अमुक-अमुक उद्देश्यों की पूर्ति करती है, हमारे देश-काल में जो मानव-मूल्य निहित है, उनकी सेवा, उनकी रक्षा-संवर्धना इससे हो सकती है। यही एक ऐसी कला है जो व्यावहारिक उपयोग, यानी अन्नमय कोष के स्तर पर हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है, और इसके साथ ही साथ वह उस परम शक्ति या सत्ता की सगुण मूर्ति भी है जिसे हम सदा उसके ऐश्वर्यमण्डित रूप में ही नहीं, बल्कि आत्यन्तिक सरलता में भी पूजते हैं। हम खद्दर के पास किसी

सुरुचि के आग्रह से नहीं आए, न यह कोई बाहर से ओढ़ी हुई दरिद्रता या सर्वहारापन है। देवत्व की अकिंचनता का - दरिद्रनारायण का - अनुसरण करना उसी आदमी के लिए संभव था जिसके आचरण में, और जीवन-प्रक्रिया में, बौद्ध-विहारों जैसी सादगी और निर्मलता आ चुकी हो। आज जब हम अपने उस निर्णय की सार्थकता को अच्छी तरह समझने की स्थिति में हैं, हम स्पष्ट महसूस करते हैं कि इसके अलावा और कोई कर्म हमें शोभा नहीं देता, हमारे चिति-सम्मत स्वधर्म के अनुकूल न होता।'

कुमारस्वामी का उपरोक्त कथन आज से कोई आठ दशक पूर्व का होगा। पर क्या आज भी हमारे दिलो-दिमाग में इसकी प्रतिध्वनि नहीं उठती? कुमारस्वामी ने एक दर्जन से ऊपर ग्रन्थों की रचना की, जिसमें *कला और स्वदेशी* नामक ग्रन्थ भी है। उनका *भारतीय और हिन्देशियाई कला का इतिहास* अपने विषय का सबसे अधिक मान्य और प्रतिष्ठित ग्रन्थ है, जो हाइनरिख त्सिमर जैसे विश्वविश्रुत विद्वानों की पाठ्य पुस्तक थी। इस ग्रन्थ में कुमारस्वामी ने प्रभाव-ग्रहण की ढर्रेवाली दृष्टि के बजाय एक नयी दृष्टि सामने रखी है। उन्होंने सुमेरियन काल के आस-पास की एक आरंभिक एशियाई कला की अवधारणा को बड़े तर्कसंगत रूप में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि कला के इतिहास के इस सोपान की सारी उपलब्धियाँ एशिया और यूरोप की उभयनिष्ठ विरासत हैं; और परवर्ती सोपानों पर आज तक कला के इतिहास में जो भी कला-रूप भारत में या अन्यत्र प्रादुर्भूत हुए, उन्हें भी इसी स्रोत से जोड़कर समानान्तर और परस्पर सम्बद्ध एक ही कुल-गोत्र की शाखाओं के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए, न कि दाता और ग्रहीता की सरलीकृत और सदोष शब्दावली में।

इस विलक्षण इतिहास-ग्रन्थ के अलावा भी कुमारस्वामी की अनेक महत्वपूर्ण देने हैं, जिनमें *ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट, क्रिश्चियन एण्ड ओरिएण्टल फिलासफी ऑफ आर्ट, एलीमेण्ट्स ऑफ बुद्धिस्टिक आइकनोग्रैफी* तथा *ए न्यू एप्रोच टु द वेदाज* का उल्लेख खास तौर पर जरूरी है। गहन चिन्तन-मन्थन के उपरान्त आनन्द कुमारस्वामी दो महत्वपूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचे थे। एक तो यह कि बौद्धधर्म और बौद्धकला को भारतीय धर्म और भारतीय कला की मुख्यधारा से अलग करना असंभव है। बौद्ध प्रतीकों का एकाग्र अध्ययन हमें यह विश्वास दिलाता है कि ये प्रतीक अकस्मात् शून्य में से पैदा नहीं हुए। इस अनुभूति से कुमारस्वामी को उन तमाम प्रतीकों का शोध उस नए दृष्टिकोण से करने की प्रेरणा हुई जो कि भारतवर्ष के समूचे प्रारंभिक वैदिक साहित्य में ओतप्रोत है। वे खोजना चाहते थे कि कहीं ऐसा तो नहीं कि जो अवधारणाएँ प्रतीकों-संकेतों के बीज-रूप में इस वैदिक साहित्य में व्यक्त हुई हैं, उन्हीं अवधारणाओं को मूर्त अभिव्यक्ति पहले-पहल बौद्धकला में मिली हो। कुमारस्वामी द्वारा कला-क्षेत्र में व्याप्त बहुलता के अन्दर भारतीय चिति-सम्मत एकता की अन्तर्धारा को खोजने का यह अद्‌भुत और विलक्षण प्रयास था।

कुमारस्वामी की दूसरी खोज यह थी कि उन्हें संत टॉमस, मीस्टर एकहार्ट, जेकब बोहमे जैसे मध्यकालीन ईसाई धर्मतत्त्वज्ञों और रहस्यवादियों के लेखन में बहुत सारी ऐसी बातें मिलीं जो ऋग्वेद के कई अंशों में पायी जाने वाली बातों से मिलती-जुलती थीं। यह सादृश्य महज संयोग कहके नहीं टाला जा सकता था, क्योंकि उन ईसाई चिन्तकों के वाक्य उन्हें मानो ऋग्वैदिक ऋषियों के सूक्तों के अक्षरशः अनुवाद जैसे प्रतीत होते थे। इससे कुमारस्वामी के भीतर यह प्रतीति हुई कि रहस्यात्मक धर्म-तत्त्व सारे संसार में एक समान है, और मध्यकालीन ईसाई धर्मतत्त्व-चिंतन की अवधारणाओं को प्राचीनतम भारतीय धर्मतत्त्व की

सम्यक् समझ के लिए उपकरण की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। आम धारणा उन दिनों यही थी कि ऋग्वेद और उपनिषदों के बीच कोई अटूट चिन्तन-धारा नहीं है, और इन कृतियों का एक दूसरे से कोई अनिवार्य संबन्ध नहीं है। कुमारस्वामी ने इस धारणा का खण्डन किया। उनकी *बुद्धिस्ट आइकनोग्रैफी* वाली पुस्तक भी बौद्ध कला के बुनियादी प्रतीकों का स्रोत वेदों, खासकर ऋग्वेद में खोजती है, और यह दिखलाती है कि वे प्रतीक (अक्षयवट, कमल, धर्मचक्र, अग्नि, स्तम्भ आदि) एक सनातन और सार्वभौम भारतीय प्रतीक-व्यवस्था और धार्मिक-दार्शनिक अवधारणाओं का पूरा प्रतिनिधित्व करते हैं।[24]

दि डांस ऑफ शिव में कुमारस्वामी लिखते हैं कि महादेव का सबसे बड़ा नाम है- 'नटराज'। नटराज के नृत्य-प्रदर्शन में वही नर्तक भी हैं और वही उस नृत्य को देखने वाले भी। जब नर्तक डमरू बजाता है तो सब उसका नृत्य देखने को आ जाते हैं। जब नृत्य समाप्त होता है तो नटराज आनन्द को प्राप्त हो जाता है। नटराज के नृत्य के तीन प्रमुख लक्षण हैं- प्रथम, ब्रह्माण्ड में जितनी शक्ति और गति है उसके नृत्य की मूर्ति एक ही है, जिसका संकेत वृत्ताकार है; द्वितीय, संसार में जो असंख्य आत्माएं भ्रमजाल में पड़ी हुई हैं उनको मुक्त करना; तथा, तृतीय, नृत्य का ध्येय यह है कि संसार का केन्द्र हृदय में ही है। इस ग्रन्थ के आमुख में रोम्याँ रोलाँ ने लिखा है कि आनन्द कुमारस्वामी रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान उन बहुत बड़े भारतीयों में से एक हैं जो पाश्चात्य सभ्यता से पूर्णतः अवगत हैं पर जिनको एशियाई तथा भारतीय सभ्यता पर गर्व है। उन्होंने इस बात का बीड़ा उठाया है कि परम्परागत धारणा कहीं की भी हो, श्रेष्ठ है; उसी से मानव-जाति का कल्याण सम्भव है। कुमारस्वामी ने आवाज उठाई है कि एशिया (भारत) के उच्च आदर्श खतरे में हैं, एशिया को बचाओ। एशिया का पतन होने पर यूरोप भी नष्ट हो जाएगा, जिसका अहंकार इंग्लैण्ड ने सँजो रखा है। एशिया के ऊपर उठने पर ही यूरोप जिन्दा रहेगा। इस पुस्तक का ध्येय है, भारतवर्ष की आत्मनिधि-विचारधारा की महानता बताना जो वहां अब तक सुरक्षित है; और जिस विधि से समस्त संसार का कल्याण हो सकता है, उसको संसार के सामने रखना।[25]

* * * * *

कुमारस्वामी के अनुसार आधुनिक सभ्यता अपने समतावादी (Egalitarian) आग्रह के कारण प्रधान एवं गौण, उच्चतर व निम्नतर, श्रेय और प्रेय में भेद नहीं कर पाती। इसी समतावादी आग्रह के कारण भारत की वर्ण-व्यवस्था की कुत्सित और दुर्भावनापूर्ण व्याख्याएं की गईं, वर्ण और वर्ग को पर्याय मान लिया गया एवं आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के संघर्षों व विद्रूपताओं को भारतीय सभ्यता पर प्रक्षेपित किया गया। वंश-परम्परा से प्राप्त और स्वधर्म के उदात्तभाव से सम्पादित किसी आर्थिक या औद्योगिक क्रिया में न तो ईर्ष्या व तज्जनित संघर्ष की गुंजाइश है और न ही नीरसता व तज्जनित ऊब की। उसमें नैतिक-आत्मिक उद्देश्य प्रधान है, आर्थिक उद्देश्य गौण; उसमें समष्टि का सुख प्रधान है, निज लाभ गौण। वहाँ लौकिक क्रियाएं अन्ततः श्रेय के लिए सम्पादित की जाती हैं। एक ऊर्ध्वगामी सभ्यता में वैशिष्ट्य और वैषम्य जीवन में सौन्दर्य, सन्तुलन और आनन्द की सृष्टि करते हैं। कुमारस्वामी उद्योगवाद को भारत जैसी महान संस्कृति के पुनर्निर्माण का आधार बनाने के तीव्र विरोधी थे, क्योंकि इसमें वस्तुएं प्रधान हो जाती हैं और व्यक्ति गौण; उत्पादन-कार्य सृजनात्मक आनन्द का स्रोत नहीं होता, वरन् नीरसता व ऊब उत्पन्न करता है; और उत्पादित वस्तुएं अपनी कलात्मकता खो देती हैं। उन्नीसवीं सदी के इंग्लैण्ड के विचारकों – विलियम मॉरिस, रस्किन,

विलियम ब्लैक, मैथ्यू आर्नल्ड आदि की भाँति वे उद्योगवाद में अन्तर्निहित नैतिक और सामाजिक दुष्परिणामों को लेकर बहुत चिंतित एवं सशंकित थे। रस्किन के वाक्य 'कला से रहित उद्योग बर्बरता है' ('Industry without art is brutality') को तो उन्होंने मूल मंत्र की भाँति ग्रहण कर लिया था। आधुनिक उद्योगवाद भोगवादी जीवन-दृष्टि का परिणाम है और इसलिए आर्थिक व औद्योगिक क्रियाओं ने मनुष्य एवं प्रकृति, मनुष्य एवं मनुष्य, तथा मनुष्य एवं ईश्वर के सहज, सनातन और सार्थक सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। परम्परागत समाजों की आर्थिक-औद्योगिक संरचना इन सम्बन्धों को केन्द्रीय मानकर हुई। वहाँ भौतिक नहीं, पराभौतिक प्रधान है; भौतिक-आर्थिक का प्रबन्ध और संचालन पराभौतिक की केन्द्रीयता को बनाए रखने के लिए होता है। ऐसी व्यवस्था में उत्पादक का सर्वतोमुखी विकास और उत्पादित वस्तु की उत्कृष्टता – दोनों को सहज रूप में उपलब्ध कर लिया जाता है। भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था को व्यष्टि और समष्टि के स्तर पर ऐसी सामाजिक-आर्थिक संरचना का आधार बनाया गया जिसमें लौकिक समृद्धि व सम्पन्नता और पारलौकिक कल्याण का सामंजस्य है। साधारण जीवन असाधारण जीवन के लिए है, और वर्णाश्रम धर्म साधारण और असाधारण – दोनों की प्राप्ति व परिपूर्णता का हेतु है। कुमारस्वामी ब्रिटिश विद्वान जार्ज बर्डवुड के इस उद्धरण के द्वारा परम्परागत समाज-व्यवस्था के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं कि उस समाज में सभी एक अविभक्त और अविभाज्य सम्पूर्ण के अंग हैं; वहाँ की धार्मिक व्यवस्थाएं प्रत्येक को समुचित सम्मान देती हैं; वहाँ समाज के मूल दायित्वों के सम्पादन हेतु प्रत्येक पद और व्यवसाय पिता से पुत्र को हस्तांतरित होता रहता है। वहाँ ब्राह्मणों के प्रभाव और विलक्षण ज्ञान की छत्रछाया में एक स्व-पर्याप्त, आत्मनिर्भर, सन्तुलित और पूर्णतः सौहार्द्रपूर्ण अर्थव्यवस्था, जिसके दैवीय स्वरूप में लोगों का दृढ़ विश्वास है और जो हर राजनीतिक व आर्थिक झंझावात से सुरक्षित है, दृष्टिगोचर होती है। ऐसी आदर्श व्यवस्था हमें असंभव लग सकती है लेकिन वह अभी भी विद्यमान है; भारतीयों के दैनिक जीवन में जीवित है; और यह आधुनिक इहलोकवादी, आनन्दरहित, क्षीणकाय और आत्मघाती पश्चिमी सभ्यता पर उसकी श्रेष्ठता का असंदिग्ध प्रमाण है।[26]

कुमारस्वामी का कलानुराग उन्हें स्वदेशी के दर्शन के सन्निकट ले जाता है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में भारत के चिन्तकों व राजनेताओं ने स्वदेशी को भारत के राजनीतिक व आर्थिक पुनरुत्थान का साधन माना। कुमारस्वामी ने अपने अनेक लेखों व भाषणों में स्वदेशी के सिद्धान्त का विवेचन किया है; और विलक्षण अन्तर्दृष्टि से स्वदेशी के सत् और असत् स्वरूप को स्पष्ट किया है। स्वदेशी-दर्शन स्वधर्म की सनातन मान्यता का अर्वाचीन निर्वचन है। कुमारस्वामी कतिपय तत्कालीन राजनीतिज्ञों के स्वदेशी को मात्र राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का यंत्र बनाने के प्रयासों से क्षुब्ध थे। स्वदेशी को मुख्यतः वाणिज्यिक या राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रणनीति के रूप में प्रयुक्त करना राजनीतिक चतुराई या आर्थिक कौशल का प्रमाण हो सकता है, परन्तु इससे राष्ट्रीय अस्मिता व स्वाभिमान की पुनर्प्रतिष्ठा संभव नहीं है। स्वदेशी एक जीवन-पद्धति है; राष्ट्र के प्रति निष्ठा व समर्पण है। यह अपने मूल व विशिष्ट स्वरूप में प्रविष्ट करने की प्रक्रिया है; यह भारत के आत्मिक व नैतिक उद्धार की संजीवनी है। कुमारस्वामी स्वदेशी आन्दोलन के कर्णधारों की दृष्टि व तर्कों से सहमत नहीं थे। इसके कर्णधारों का तर्क था कि स्वदेशी अपनाने से भारत का धन इंग्लैण्ड जाने से रुक जाएगा, क्योंकि हम मानचेस्टर और लंकाशायर में बनने वाली वस्तुओं का भारत में उत्पादन कर सकेंगे। इससे भारत में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया तीव्र होगी, जनता को सस्ती वस्तुएं मिल

सकेंगी व भारतीय सम्पदा का दोहन रुक जाएगा। कुमारस्वामी ने तर्क दिया कि क्या भारत को बर्मिंघम या पेरिस का कस्बा बना देना स्वदेशी है? क्या ऐसी वस्तुओं का, जो न भारतीय जीवनशैली का अंग हैं और न जीवनोपयोगी, जो मात्र हमारे दंभ को सन्तुष्ट करने की साधन हैं, भारत में उत्पादन करना या भारतीयों द्वारा उनका उपयोग करना स्वदेशी है? क्या यूरोपीय जीवन शैली से जुड़ी वस्तुओं – चाहे वे वस्त्र हों या वास्तु या विलासिता की अन्य विविध सामग्री – को भारतीयों द्वारा अपनाना व उनका उत्पादन करने के लिए मिल-कारखाने खोलना भारत के आर्थिक व नैतिक उन्नयन में सहायक है? उन्होंने भारत में जन-सामान्य और संभ्रान्त वर्ग– विशेषतः देसी रियासतों के नरेशों में विदेशी वस्तुओं के प्रति बढ़ते आकर्षण की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि आज लोग अपने भवनों व महलों को यूरोपीय शैली में बनाने, अपने घरों को यूरोपीय शैली की मेज-कुर्सियों, कालीनों व अलंकरण की अन्य वस्तुओं से सजाने व यूरोप से आयातित वस्त्र पहनने में अपनी शान समझते हैं। ये लोग इस बात का विचार नहीं करते कि ऐसा कर वे भारतीय अस्मिता को कितनी हानि पहुँचा रहे हैं। यह कितना बड़ा विरोधाभास है कि हम राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करें और हमारे विचार, हमारी रुचि व जीवनशैली और हमारी इमारतें पाश्चात्यता में आकंठ डूबी हों। इस संदर्भ में वह कतिपय दृष्टांत देते हैं। भारतीय संगीत से जुड़े वाद्ययंत्रों के निर्माण में तेजी से गिरावट आई क्योंकि पाश्चात्य वाद्ययंत्रों जैसे हारमोनियम, वॉयलिन, पियानो आदि की मांग व चलन तेजी से बढ़ा। विदेशी कपड़े का प्रयोग बढ़ने से भारत के परम्परागत वस्त्र-उद्योग पर संकट मँडराने लगा। इन उद्योगों से जुड़े कारीगरों के सामने आजीविका का संकट उत्पन्न हो गया, और इससे अधिक चिन्ताजनक यह है कि भारत के परम्परागत उद्योगों व कलाओं के विलुप्त हो जाने का खतरा पैदा हो गया। इन्हें ब्रिटिश शासकों का संरक्षण न मिलना आश्चर्यजनक नहीं है, परन्तु यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि उन्हें भारतीय जनता, भारत के संभ्रान्त वर्ग व राजे-रजवाड़ों का संरक्षण न मिले। हमारी परजीविता के कारण भारत की उन्नत कलाएं व दस्तकारियाँ विनाश के कगार पर पहुँच गयीं। कुमारस्वामी ने कटाक्ष करते हुए कहा कि विदेशों से आयातित माल के बहिष्कार करने से अधिक आवश्यक यह है कि हम भारतीय दस्तकारों व दस्तकारियों का बहिष्कार करना बन्द करें।[27]

अन्ततः भारतवासी ही भारतीय कलाओं व दस्तकारियों के वास्तविक संरक्षक हैं, लेकिन पश्चिम के व्यामोह से मुक्त हुए बिना यह संभव नहीं। विदेश में निर्मित या विदेश से आयातित वस्तुओं का बहिष्कार करना स्वदेशी का एक पक्ष है, परन्तु विदेशी वस्तुओं व सामग्रियों के भारतीय संस्करण से बचना उसका अधिक महत्वपूर्ण पक्ष है। कुमारस्वामी ने उन ब्रिटिश इतिहासकारों व कलाविदों को, जिन्हें परम्परागत कलाओं व दस्तकारियों की गहरी समझ थी और जो इनकी दुर्दशा से बहुत क्षुब्ध थे, बार-बार उदधृत किया है। हेवेल ने भारतीयों को चेतावनी देते हुए कहा– ''अपनी कलाओं और उद्योगों को पुनर्जीवित करने के लिए ब्रिटिश सरकार से गुहार लगाना बन्द कर दीजिए। आप स्वयं ऐसा करने में सक्षम हैं और आपको ऐसा करना भी चाहिए। जब आप इन्हें पुनर्जीवित कर लेंगे, कोई सरकार आपको राजनीतिक अधिकार देने से बच न पाएगी। भारतीय कलाओं के विकास से भारत को अपनी खोई हुई सृजन-शक्ति पुनर्प्राप्त हो जाएगी।'' सर जार्ज बर्डवुड ने कहा– ''भारत के संभ्रान्त वर्ग के स्त्री-पुरुषों को अपने देश में और अपनी शैली में बने हुए वस्त्र व शृंगार-सामग्री का प्रयोग करने में ही अपनी महत्ता समझनी चाहिए।'' भारत में पाश्चात्यता के प्रति बढ़ते आकर्षण पर क्षोभ प्रकट करते हुए हैरिस ने लिखा– ''जनसामान्य की अभिरुचि में एक गिरावट दिखाई देती

है। आप किसी बड़े शहर के निकट स्थित गाँव की सड़कों पर निकलें तो पाएंगे कि लोग मानचेस्टर या जर्मनी में बने कपड़ों को खूब इस्तेमाल करते हैं। उस सफेद या रंगीन भारतीय वस्त्र, जिसका निर्माण कुटीर उद्योगों में होता था और जो न केवल भारत में पहना जाता था वरन् उन्नीसवीं सदी के मध्य तक विदेशों को बड़ी मात्रा में निर्यात किया जाता था, का स्थान तेजी से इन आयातित वस्त्रों द्वारा लिया जा रहा है।'' सर जी. वॉट ने लिखा– ''केवल बनारस में ही नहीं, सम्पूर्ण भारत में हजारों वर्षों की साधना से अर्जित परम्परागत कला की सुन्दर शैलियों को तिलांजलि दी जा रही है और उनके स्थान पर निकृष्ट व अनुपयोगी कला-शैलियों को बढ़ावा दिया जा रहा है।''

स्पष्टतः स्वदेशी की व्याप्ति सम्पूर्ण जीवन में होनी चाहिए। स्व-शासन उसका राजनीतिक रूप है, परन्तु स्वदेशी के प्रति आग्रह व उत्साह तो स्थापत्य, संगीत, शिक्षा, खान-पान, साज-शृंगार आदि सभी क्षेत्रों में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। स्वदेशी का प्रश्न मात्र आर्थिक आय या बचत का नहीं है, यह उसका स्थूल पक्ष हो सकता है। स्वदेशी एक राष्ट्र के विचार और आचार का सहज प्रवाह है। परम्परागत कलाएं व दस्तकारियाँ मात्र आजीविका का साधन नहीं रही हैं, उनमें भारतीय चेतना की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। कुमारस्वामी का दृढ़ विश्वास था कि भारत का पुनर्जागरण भारतीय कला की पुनर्प्रतिष्ठा से ही संभव है। कला जीवन है और जीवन कला। यदि इस कला-बोध का क्षरण हुआ तो भारतीय अस्मिता का विघटन हो जाएगा।

कुमारस्वामी भारत में आधुनिक उद्योगवाद के बढ़ते कदमों से इसलिए चिंतित थे क्योंकि मशीनीकरण कला व कलाकार का शत्रु है। औद्योगिकीकरण ने पाश्चात्य देशों में जो गंभीर नैतिक व आर्थिक संकट उत्पन्न किया, वे भारतीय नेतृत्व को उससे सीख लेने का आग्रह करते हैं। औद्योगिकीकरण सृजनात्मकता का विघातक है, सन्तोष-वृत्ति का निषेध है और पदार्थवादी दृष्टि का विस्तार है। भारत का कल्याण इस उद्योगवाद को अंगीकार करने में नहीं, इसका प्रतिकार करने में है। भारत को कल-कारखानों से पाट देना, उत्पादन के नाम पर भोंडी विलासिता व निरर्थक वस्तुओं के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना, कारीगरों को कलाकार से सर्वहारा बना देना– ये सभी स्वदेशी के उदात्त आदर्शों का हनन है। एक औद्योगिक भारत आधुनिक पश्चिम की मलिन प्रतिकृति ही होगी।

इस तरह कुमारस्वामी ज्ञान के पर्वत के जिस ऊँचे शिखर पर पहुँच गये थे, वहाँ संसार के अनेक ज्ञान-साधकों ने उन्हें मानवीय ज्ञान की सनातन एकता के प्रकाश को फैलाते देखा; इसी विश्वज्ञान को वे '*Philosophia Perennis*' अर्थात् 'सनातन धर्म' कहा करते थे। आनन्द कुमारस्वामी ने जीवन के अन्तिम वर्षों में कला, संस्कृति और इतिहास को छोड़कर अपना सारा समय वैदिक दर्शन-शास्त्र और अध्यात्म-विद्या में लगा दिया था जिसके माध्यम से 'आत्मा' पर ग्रन्थ प्रकाशित कर सकें। कुमारस्वामी बारम्बार कहा करते थे कि जब कलाकार सर्वोत्तम दैवी चित्र तैयार करता है तो उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है, या जीवन का अन्त हो जाता है। ये शब्द उनके इस कार्य के फलस्वरूप चरितार्थ हो गया और वे अपने स्वरूप (परब्रह्म) में स्थित हो गये। कुमारस्वामी के अक्षय चिंतन का केन्द्र बिन्दु 'सम्यक् दृष्टि' है, और इस सम्यक् दृष्टि का आदि स्रोत परम्परा है; परम्परा में ही कला पल्लवित, संरक्षित और पोषित होती है। यदि इस कला-बोध का क्षरण हुआ तो भारतीय अस्मिता का विघटन हो जाएगा। आधुनिकता की वेगवान आँधी में प्रत्येक भारतीय को कुमारस्वामी की तरह अविचल खड़े रहने की जरूरत है।

पुनर्जागरण काल में साम्राज्यवाद के तत्त्वावधान में उपजे आधुनिकता के ज्वार ने बड़े-बड़े शिलाखंडों को निमग्न कर दिया, परन्तु कुमारस्वामी एक वटवृक्ष की भाँति अविचल खड़े रहे। महात्मा गांधी की भाँति वह भलीभाँति जानते थे कि आधुनिक सभ्यता चार दिन की चाँदनी है। छद्म सिद्धान्तों की क्षणिक सफलता उन्हें अभिभूत न कर सकी। उन्होंने अप्रितम निष्ठा व शौर्य के साथ परम्परागत सिद्धान्तों का निरुपण किया। रोमां रोलां के अनुसार उनकी रचनाएं आत्म-शक्ति व उसकी विपुल सम्पदा का उन्मीलन हैं। वे पूर्व व पश्चिम की परम्परागत सभ्यताओं के पुजारी हैं। वे ऐसे सद्गुरु हैं जो कबीर के शब्दों में, 'लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावन हार' की सामर्थ्य से सम्पन्न हैं। भारतीय चिति-सम्मत तात्त्विक एकता से उद्भूत बहुलता के भारतीय व वैश्विक विमर्श को अपनी कला-मीमांसा के माध्यम से एक विलक्षण स्वरूप प्रदान करने वाले आनन्द कुमारस्वामी हमारे लिए विद्वता की शाश्वत परम्परा की अधिकृत पहचान हैं। आनन्द कुमारस्वामी की सत्तरवीं वर्षगांठ के अवसर पर कलाविद् एरिक गिल ने जो शब्द उनके लिए प्रयोग किए हैं उससे उन्हें सम्यक् श्रद्धांजलि दी जा सकती है-

> अन्य विद्वानों ने भी सत्य, जीवन, धर्म और मनुष्य के कार्यों के विषय में लिखा है, अन्यों को भी वाग्विदग्ध विवेचन की सामर्थ्य प्राप्त रही है, अन्य दार्शनिकों को भी हिन्दू, बौद्ध व ईसाई तत्त्वदर्शन का ज्ञान है, अन्य विद्वानों ने भी चित्रों व मूर्तियों के सम्यक् आशय को समझा है, अन्यों ने भी सत्, चित् और आनन्द के सम्बन्ध को समझा है, अन्यों में भी प्रेम, उदारता व सहिष्णुता विद्यमान रही है तथा निस्सीम ज्ञान से सम्पन्न अन्य दार्शनिक भी हुए हैं। परन्तु, मैं ऐसे किसी दार्शनिक को नहीं जानता जिसमें सभी योग्यताएं एवं शक्तियां एक साथ विद्यमान हों। मैं यह कहने की धृष्टता नहीं कर सकता कि मैं उनका शिष्य हूँ, क्योंकि कदाचित् वे मेरी यह स्वीकारोक्ति पसन्द न करें। मैं यह पुरजोर शब्दों में कहता हूँ कि आनन्द कुमारस्वामी के सिवाय और किसी दूसरे व्यक्ति ने सत्य, कला, जीवन, धर्म और धार्मिक आचरण के विषय में इतना गूढ़ ज्ञान इतनी समझदारी के साथ व्यक्त नहीं किया है।[28]

सन्दर्भः

1. विद्यानिवास मिश्रः *भारतीयता की पहचान,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 9.
2. वासुदेव शरण अग्रवालः *कला और संस्कृति,* साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, 2005, पृ. 213.
3. Blessed is he who has found his work; let him ask for no other blessedness. - Carlyle.
4. वासुदेव शरण अग्रवालः *पूर्वोक्त,* पृ. 214.
5. *तदैवः* पृ. 215.
6. एक उदाहरण को पंडित विद्यानिवास मिश्र ने कुमारस्वामी के ही हवाले से कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया हैः "कश्मीर की बर्फीली पहाड़ियों में घूमते समय मुझे एक बूढ़ा गड़रिया मिला, वह हाफिज का दीवान गाता जा रहा था, मैं उसके पास गया, पूछा क्या गा रहे हो, उसने कहा हाफिज का दीवान, मैंने पूछा तुम्हें सब याद है, उसने कहा हाँ, जहाँ से कहें सुना दूँ, मैंने पूछा कहाँ पढ़ा, किससे पढ़ा, यहाँ तो फारसी बोली नहीं जाती, उसने कहा, मेरे लिए काला अक्षर भैंस बराबर, मैंने पीरों से सुना, मुझे अच्छा लगा, बार-बार दुहराया, याद हो गया और अब इन बर्फीली पहाड़ियों में भेड़-बकरियों के ढोर लिए घूमता हूँ तो मुझे सब पहाड़ियाँ, ढोर, हवा सब हाफिज ही को गुनगुनाते हुए सुनाई पड़ते हैं। फिर उससे अर्थ पूछा और उसने अर्थ की पर्त-दर-पर्त उतारनी शुरू की और मैं चकित रह गया। मैं पूछता हूँ एक निरक्षर जिस परम्परा के कारण इतना शिक्षित हो सकता है और ऐसी कठिन जिन्दगी इतनी रसमय हो सकती है, वह अच्छी या वह साक्षरता जो मनुष्य को वंचित कर देती है हजार-हजार गूँजों से जो ऐसी वीरान पहाड़ियों में बसी हुई है।" (विद्यानिवास मिश्रः *पूर्वोक्त,* पृ. 132-133).
7. विद्यानिवास मिश्रः *पूर्वोक्त,* पृ. 10-11.
8. इसी तथ्य को रेने गेनों भी व्यक्त करते हैंः देखें, रेने गेनोंः *इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ द हिन्दू डॉक्ट्रिन्स,* मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1993 (मूल प्रकाशन 1945), पृ. 325.
9. विद्यानिवास मिश्रः *पूर्वोक्त,* पृ. 30-52.
10. आनन्द कुमारस्वामीः *एसेज़ इन नेशनल आइडियलिज़्म,* मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1981 (मूल प्रकाशन 1909), पृ. 96-97.

11. *तदैव:* पृ. 98.
12. *तदैव:* पृ. 104-105.
13. *तदैव:* पृ. 108, पृ. 117.
14. *तदैव:* पृ. 120-121.
15. *तदैव:* पृ. 122-124.
16. *तदैव:* पृ. 134-137.
17. *तदैव:* पृ. 148-149, पृ. 206.
18. देखें, रेने गेनोंः *स्टडीज़ इन हिन्दुइज़्म*, नवरंग, नई दिल्ली, 1985, पृ. 14; तथा श्रीअरविन्दः *द रेनेसां इन इण्डिया एण्ड अदर एसेज़ ऑन इण्डियन कल्चर* (द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ श्रीअरविन्द, अंक 20), श्रीअरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, 1977 (इस अंक के अधिकांश निबन्ध *द फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर* में भी उपलब्ध हैं).
19. आनन्द कुमारस्वामीः *आर्ट एण्ड स्वदेशी*, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1994.
20. विद्यानिवास मिश्रः *पूर्वोक्त.*
21. आनन्द कुमारस्वामीः *ईस्ट एण्ड वेस्ट एण्ड अदर एसेज़*, ओला बुक्स लिमिटेड, कोलम्बो, 1940.
22. आनन्द कुमारस्वामीः *एसेज इन नेशनल आइडियलिज्म, पूर्वोक्त.*
23. आनन्द कुमारस्वामीः *हिन्दूइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म*, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1986.
24. रमेश चन्द्र शाहः 'कला और कुमारस्वामी', *तत्त्व-सिन्धु*, कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ, 2020.
25. आनन्द कुमारस्वामीः *दि डांस ऑफ शिव*, बम्बई, 1956, प्राक्कथन.
26. आनन्द कुमारस्वामीः *ईस्ट एण्ड वेस्ट एण्ड अदर एसेज़*, ओला बुक्स लिमिटेड, कोलम्बो, 1940, पृ. 16.
27. आनन्द कुमारस्वामीः *आर्ट एण्ड स्वदेशी, पूर्वोक्त*, पृ. 15.
28. आर्ट एण्ड थॉट, *कुमारस्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ*, लन्दन, 1947, पृ. 15.

बृजेन्द्र पाण्डेय
उपाचार्य, राजनीतिशास्त्र, विद्यान्त महाविद्यालय, लखनऊ
सचिव, कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ
brijendra_pandeyji@yahoo.co.in